काव्य में रहस्यवाद

संग्रहणीय शोध-ग्रन्थ

१ मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य
डा० शिवसहाय पाठक
मू० १८ ००

२ आधुनिक हिन्दी कविता में ध्वनि
डा० कृष्णलाल शर्मा
मू० १५ ००

३ छायावाद : काव्य तथा दर्शन
डा० हरनारायण सिंह
मू० १५ ००

४ प्रगतिवादी समीक्षा
श्री रामप्रसाद त्रिवेदी
मू० १० ००

५ प्रसाद की दार्शनिक चेतना
डा० चक्रवर्ती
मू० २० ००

६ संत साहित्य
डा० प्रेमनारायण शुक्ल
मू० १८ ००

७ हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया
डा० परमानन्द श्रीवास्तव
मू० १२ ५०

८ आधुनिक हिन्दी काव्य भाषा
डा० रामकुमार सिंह
मू० २ ००

९ सूर का काव्य वैभव
डा० मुन्शीराम शर्मा
मू० १२ ५०

१० काव्य में रहस्यवाद
डा० बच्चूलाल अवस्थी
मू० १२ ५०

काव्य में रहस्यवाद

डॉ० बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'
आचार्य एम० ए० पी-एच० डी०



ग्रन्थम
रामबाग, कानपुर

ग्रन्थम

● मूल्य
बारह रुपए पचास पैसे

● प्रकाशक
ग्रन्थम रामबाग कानपुर

● प्रकाशनकाल
अक्टूबर, १९६५

● मुद्रक
मानक प्रिन्टर्स आनन्दबाग
कानपुर-१

पितामह !

तुम तो मेरी जड़ता-रूपी व्याधि दूर कर
तथा स्वयं तीर्थ बन कर अपना
'वैद्यनाथ' नाम सार्थक कर गये,

मैं तुम्हारे द्वारा पाये हुए लालन के अनृणीभाव का बचकाना प्रयास ही तो कर सकता हूँ।

वैष्णव शिरोमणे !

लो रामचरित मानस और विनयपत्रिका द्वारा
आरम्भिक शिक्षा देने का स्वकृत प्रतिफल
जो कदाचित इस ग्रन्थ के रूप में
तुम्हारी आत्मा को, जिससे अभिन्न होने का
मुझे गौरव प्राप्त है, शान्ति दे।
मैं दो अश्रु बिन्दुओं के अतिरिक्त
पूर्णकाम को और क्या दूँ ?

अनुक्रमणी

भूमिका

यद्यपि यूरोपीय विद्वानों ने लिखा है कि मिस्टिसिज्म अच्छा शब्द नहीं है इसके समकक्षी भारतीय शब्द इससे कहीं अधिक अच्छे हैं[1] तथापि हिन्दी के लेखकों ने इसी को अपनाया। 'मिस्टिसिज्म' का रहस्यवाद अनुवाद भ्रान्तिकारक है। भारतीय वाङमय में रहस्य गुह्य गूढ़ उपनिषद इत्यादि शब्द मिलते हैं किन्तु रहस्यवाद शब्द कहीं नहीं मिलता। जो हो हिन्दी का तो अब यह प्रचलित सिक्का है।

आचार्य शङ्कर ने सत्ता के तीन स्तर माने हैं— व्यावहारिक, प्रातिभासिक और पारमार्थिक। तीनों की अनुभूति के स्तर अलग अलग हैं। व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्य का अनुभूति तो जनसाधारण को है किन्तु पारमार्थिक सत्य की अनुभूति किसी बिरले साधक को ही होती है। बौद्ध दर्शन में भी तीन प्रकार के सत्य और उसकी अनुभूति का उल्लेख है—परिकल्पित सत्य परतन्त्र सत्य और परिनिष्पन्न सत्य। नागार्जुन ने परिकल्पित और परतन्त्र सत्य को मिला कर संवृति सत्य और परिनिष्पन्न सत्य को परमार्थ कहा है।

प्लोताइनस ने ज्ञान के तीन स्तर माने हैं—(१) साइन्स अर्थात् इन्द्रियज ज्ञान (२) आपीनियन—सुन कर या पुस्तकों द्वारा प्राप्त ज्ञान (३) इल्यूमिनेशन—प्रबोध या बोधिजन्य ज्ञान। इसी का अरबी में अनुवाद हुआ—(१) एनुलयकीन (२) इल्मुल्यकीन (३) हक्कुल्यकीन और सूफिया

---

1 W T Stace द्वारा लिखित Mysticism and Philosophy पृ० १५

ने इन शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया। परमार्थ के लिए वे हक शब्द का प्रयोग करते हैं और पारमार्थिक ज्ञान के लिए 'हक्कुलयकीन'। सवतिसत्य—साय स और आपिनियन—एनुलयकीन और इल्मुल्यकीन तो इंद्रिय और साधारण बुद्धि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु परमार्थ ज्ञान—इल्यूमिनेशन—हक्कुलयकीन तो साधारण बुद्धि से परे है।

'अक्ल गो आस्ताँ से दूर नहीं।
उसकी तकदीर में हुजूर नहीं। (इकबाल)

परमार्थ की हक की अपरोक्षानुभूति होती है। अपरोक्षानुभूति इतनी व्यक्तिगत होती है, कि उसको शब्दों द्वारा दूसरों को व्यक्त नहीं किया जा सकता। अकथनीयता अवर्णनीयता सभी प्रकार की अपरोक्षानुभूति के लिए सत्य है, किन्तु परमार्थ की अपरोक्षानुभूति के लिए तो यह और अधिक मात्रा में सत्य है, क्योंकि शब्द देश और काल के राज्य के हैं और परमार्थ देशकालातीत है, जिस चित्त या बुद्धि से हम वर्णन करना चाहते हैं वह भगवान बुद्ध के शब्दों में सस्कृत है और निर्वाणपद असंस्कृत है, संस्कृत से असंस्कृत का कैसे वर्णन करें? इसीलिए उपनिषद ने कहा है 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' और कबीर ने कहा है 'आकर नाम दुर्लभ हुआ रे भाई'। यह सब होते हुए भी, गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में 'तदपि कह बिनु रहा न कोई'। प्रत्येक साधक कुछ न कुछ उसके विषय में कहता ही है। समस्या यह खड़ी होती है कि जब परमार्थ की अनुभूति अकथनीय है तो फिर कोई उसका कथन कैसे करता है? इसके हल के लिए कुछ विद्वानों ने काव्यगत सत्य (poetic truth) की अवधारणा प्रस्तुत की है। यह 'काव्यगतसत्य' क्या है, इसकी आलोचना इस छोटी-सी भूमिका में संभव नहीं है। संक्षेप में यही कह सकते है कि प्राध्यापक फिलिप व्हीलराइट ने अपने The Burning fountain में दो प्रकार की भाषा बतलाई है—expressive or depth language व्यञ्जनात्मक या निगूढार्थबोधिक भाषा और literal language अभिधामूलक भाषा। उनका कहना है, काव्य, साधक और पुराण व्यञ्जनात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं और विज्ञान, इतिहास इत्यादि अभिधामूलक भाषा का प्रयोग करते हैं। इस पर विद्वानों ने बहुत विचार किया है। उनका कहना है कि काव्य इस प्रकार भाषा से—भावाभिव्यञ्जना पदलालित्य छन्द ध्वनिमाधुर्य इत्यादि से सत्य को अधिक मधुर अवश्य बना देता है, किन्तु काव्यगत सत्य कोई भिन्न प्रकार का सत्य नहीं है। तो क्या परमार्थ की अनुभूति की अकथनीयता और फिर भी उसके कथन के सार्थक प्रयास की समस्या का कोई उत्तर नहीं है?

हम ऊपर एक कठिनाई का सकेत कर चुके हैं कि परमार्थ की अनुभूति देशकालातीत है भाषा देशकाल की सीमा मे आबद्ध है, परमार्थ निर्विशेष अखण्डता का अनुभूति है हमारी भाषा विशेष और खण्डात्मक वत्ति स जकडी हुई है। इसके साथ ही साथ एक कठिनाई और है। परमार्थ की अनुभूति म अकाल काल असीम-ससीम निर्वाण-ससार अनन्त सान्त द्वय अद्वय सत असत भाव-अभाव शून्य तूण इत्यादि विरोधो का परिहार समन्वय और उपशम हो जाता है। नागाजुन के शून्य मे वह चतुष्कोटि विनिमुक्त है। यही कारण है कि बौद्धयोगियो ने उस भावाभाव समानता कहा है और परमार्थ की उन्होन तथता की सज्ञा दी है। जब साधक बुद्धि के धरातल पर उतरता है तब य विरोध मह फाड कर खड हो जाते हैं और जब वह अपनी अनभूति की स्मति को बौद्धिक स्तर पर वणन करना चाहता है तब एक विचित्र असमथता का अनुभव करता है। साथ ही जिस सत्य क अनुपम सौदय का उसने देखा है उसके वणन की विवशता का भी अनुभव करता है। इस कठिनाई को दूर करन क लिए उसे विरोधाभास व्यञ्जना और प्रतीकात्मक भाषा की शरण लनी पडती है। कोई अन्य गति नही दूसरा कोई उपाय नही। काव्य ही एक ऐसा माध्यम है जिसम उसको उपयुक्त उपायो के अवलम्बन का अवकाश मिलता है। उसके हृदय का स्पन्दन छन्द म प्रवाहित हो उठता है उसकी मार्मिक अनुभूति व्यञ्जना ध्वनि और प्रतीक म फट निकलती है उसकी अखण्डता के बोध की अभि यक्ति की पीडा विरोधाभास का रूप ग्रहण कर लेती है। इन उपायो क द्वारा वह हम अनन्त के छोर तक पहुचा कर क्षण भर क लिए उसकी एक झाँकी दे देता है। वह विरोधाभास का प्रयोग लोगो को चकित या आतङ्कित करन के लिए नही करता जसा कि कुछ लोगो न भ्रमवश समझ रक्खा है। वस्तुत परिस्थिति उस विवश करती है। यही कारण है कि वेद उपनिषद और चर्यापद म सन्धाभाषा (सन्ध्या नही) सन्तो की वाणी म उलटवाँसी और क्रिश्चन मिस्टिक में पराडॉक्स का बहुल प्रयोग मिलता है।

साधकों ने स्वानुभूति क आधार पर परमार्थ के विषय म कविता की है कुछ सफल कवियो न सहानुभूति क आधार पर परमार्थ के विषय म कविता लिखी है। मरी तुच्छ बुद्धि म दोनो को एक पक्ति म बिठाना ठीक नहीं है।

यह बात नहीं है कि कवल साधक को ही परमार्थ की अनुभूति होती है। औरो को भी—और निस्सन्देह किसी कवि को भी—पूर्व जन्म की साधना

के संस्कार से अथवा प्रभु के अनुग्रह से ऐसी अनुभूति हो सकती है। यदि इस प्रकार की अनुभूति उसे हुई है और उसकी अभिव्यक्ति वह काव्य द्वारा करता है, तो निस्सन्देह वह भी उसी कोटि का कवि है जिस कोटि का कवि साधक है। किन्तु साक्षात अनुभूति के आधार पर रचित कविता और किसी साधक के लेख या कविता से प्रेरित या प्रभावित होकर कल्पना और भावावेश के आधार पर रचित कविता में अंतर रहेगा ही। इसका निर्णय कैसे हो कि किसी को वास्तविक अनुभूति हुई है या नहीं ?

इसका निर्णय स्वयं उसका जीवन कर देगा। अनुभूति के अनन्तर उसका जीवन रूपान्तरित हो जायगा। एक साधक ने कहा है "No one can see God and yet live —ईश्वर का देखने के बाद कोई जिन्दा नहीं बच सकता। अर्थात् वह फिर वही नहीं रह जायगा, उसका आपा समाप्त हो जायगा। आगे का जीवन पूर्ववत रागद्वेष से प्रेरित न होगा, वह सर्वत्र साम्य देखेगा और ब्राह्मी स्थिति में रहेगा।

जो हो उस अनुभूति का वर्णन जैसा एक कवि कर सकता है, वैसा दूसरा कोई नहीं कर सकता। जीवन की साधारण अनुभूतियों के लिए भी यही बात सत्य है। उर्दू के किसी कवि ने सच कहा है—

दिल के किस्से कहाँ नहीं होते।
हाँ, वे सब से बयाँ नहीं होते।

आजकल हिन्दी में 'रहस्यवाद' पर पर्याप्त चर्चा चल रही है। डाक्टर बच्चूलाल अवस्थी ने काव्य में रहस्यवाद इस पर विद्वत्तापूर्ण विचार किया है। मैं ने उन्हें एक पत्र में लिखा था कि मिस्टिसिज्म का रहस्यवाद भ्रष्ट अनुवाद है। मिस्टिसिज्म mystes से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है दीक्षा प्राप्त। गोपनीयता या रहस्य तो इसका औपचारिक या गौण अर्थ है। डाक्टर अवस्थी ने इसका उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। इसलिए इसकी विस्तृत आलोचना यहाँ करना ठीक न होगा। हिन्दी में रहस्यवाद एक रूढ़ शब्द सा बन गया है जो कि एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है।

डाक्टर अवस्थी संस्कृत के एम० ए० और आचार्य हैं हिन्दी के एम० ए० और डाक्टर हैं। काव्य और दर्शन दोनों का उनका बहुत अच्छा अध्ययन है। अतः वह सब प्रकार से इस विषय पर लिखने के अधिकारी हैं। विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में रहस्यवाद के विविध पक्षों पर विचार किया है।

रहस्य का शब्दार्थ रहस्य और दर्शन का सम्बन्ध रहस्यकाव्य में भाव और ध्वनि इस प्रकार के काव्य का इतिहास रहस्यकाव्य में प्रतीक का स्थान रहस्यवाद और छायावाद का अन्तर—इत्यादि बहुत-सी बातें व विषयों का उन्होंने समीक्षात्मक गवेषणापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। भूमिका लेखक तो नाटक के सूत्रधार के समान है। नाटक के विषय का संकेत कर सूत्रधार को रंगमंच से हट जाना चाहिए नहीं तो वह नाटककार के साथ अन्याय करेगा। मैंने भी इस पुस्तक के वर्ण्य विषय का संकेतमात्र कर दिया है। पाठक स्वयं देखेंगे कि इसमें क्या है। इतना मुझे विश्वास है कि वे इसके अध्ययन से अवश्य लाभान्वित होंगे।

—जयदेवसिंह

अपनी बात

भारत आध्यात्मिक देश है। यहां का नगराज कूटस्थ अचल शिखरी है जिससे जाह्नवी की पावन भाव धारा शाश्वत प्रवाह प्राप्त करती है। यहां की भाषाएं व मुहावरे आध्यात्मिक हैं। यहां भगवान की दया से सब काम होते हैं। यहां धन को माया कहा जाता है। यहां दास प्रथा न होने पर भी भाग्य का परम पुरुषार्थ माना गया है। यहां जो जैसा करता है वैसा भरता है। यहां की रसोई में रस का प्रयोग होता है और व्यञ्जन बनते हैं जो उस रस की व्यञ्जना करते हैं जो कि आत्मरूप है। यहां खाना नहीं खाया जाना प्रसाद पाया जाता है। यहां कामशास्त्रीय शब्द भी दार्शनिक हैं भौतिक नामकरण मात्र नहीं—यन्त्र प्रयोग सिद्धि भाव प्राप्ति, आसन, मुद्रा मैथुन रति सुरत आदि सभी शब्द उठा लिए जाएं तो उनका पहले अध्यात्मविद्या में प्रयोग मिलेगा जहां से व्यभिचरित (Corrupt) होकर लाए गए हैं। यहां कवि मनीषी ही नहीं परिभू और स्वयम्भू है। यहां का नाद परा विद्या का रूप है ब्रह्म है और यहां मैं अप्सरा की योजना आध्यात्मिक रहस्य की व्यञ्जक रही है। यहां जीवन प्राणधारण है जिसका धारणकर्ता जीव है पर व्यापक होने से वह आत्मा है। यहां मरण का अर्थ प्राणत्याग भर है और यहां मृत्यु मिट्टी का मिट्टी में मिलना भर है। यहां देहान्त होता है आत्मा का अन्त नहीं। यहां कबड्डी में प्राणायाम सिखाया जाता है। यहां हमारी वस्तु हमारा (सम्बन्ध सम्बद्ध) ना होती पर हमारे पास रहा करती है, हम उसे रखते नहीं (आइ हैव का मुहावरा नहीं चलता)। यहां किसी मंझट से मुक्त होकर निद्रन्द्र हो रहा है। यहां पुत्र आत्मा होता है और पत्नी जाया होती है क्योंकि उसी से पुरुष पुत्र रूप में जन्म लेता है। यहां का प्रेम आलम्बन को तृप्ति देने का अर्थ देता है—प्रेम करने वाला लाभार्थक रूप नहीं करता। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार हम स्वाधीन या स्वतन्त्र हैं इंडिपेण्डेण्ट नहीं। यहां के कमल और मृणाल भी परा लीला के प्रतीक हैं। यहां गर्भाधान एक संस्कार है जिसमें नर-नारी शाश्वत प्रकृति-पुरुष की लीला का विनोद भर करते हैं। यहां का आकाश सब ओर दीप्त रहने से कहलाता है।



ऐसी दशा में पश्चिम से उधार ले लेकर जब हमने विचारों से अपने को भरना चाहा तो यहाँ का प्रत्येक शब्द ऐसे नये अर्थ से विद्रोह करने लगा। जिस भारत में शब्द का सम्यक प्रयोग स्वर्गदायक माना जाता था वहाँ अब बाह्य सादृश्य के आधार पर सत्य और आत्मा एक हो जाते हैं। यहाँ का मनीषी अंग्रेजी कम जानता हुआ भी अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों में सोचता और फिर संस्कृत का आँचल फाड़ कर उसमें उस अर्थ को लपेट कर कृतकृत्य हो रहता है। व्याकरण दर्शन और काव्य की दृष्टि से जो भारत विश्व में एक रहा है उसके ये ही विषय अंग्रेजी से अनूदित होकर गौरव पाते हैं। काव्य शास्त्र का हमारा अब कोई प्रतिमान पश्चिम की कसौटी पर खरा उतरे बिना मान्य नहीं होता। स्पष्ट है कि हम अपने रत्नों से ऊब गये हैं अतः उन्हें फेंक कर बाहर का काँच घर में भरने पर तुले हैं—हमारा तात्पर्य नवीन अवधारणाओं के विरोध में नहीं है पर भारतीय सौन्दर्य शास्त्र तक मूलग्रन्थों में न पढ़ा जाकर अंग्रेजी से पढ़ा जाय तो संस्कृत के विद्यार्थी और हिन्दी के स्वाभिमानी अध्येता के लिए क्षोभ की बात ही है।

इस निश्चय को रचनात्मक रूप तब मिला जब मैंने श्रद्धेय डा० भगीरथ मिश्र का समीक्षा-विषयक साहित्य पढ़ा। वे भारतीय काव्यशास्त्र द्वारा काव्य के समीक्षक के रूप में मुझे दिखे और मैं इधर प्रायः पाँच वर्षों में उनकी ओर निरन्तर आकृष्ट होता गया हूँ। उन्होंने मेरे क्षोभ को केवल निषेधक होने से बचा लिया और विधि की दिशा में मोड़ा। मैंने सीखा कि पश्चिमीय समीक्षा सिद्धान्त भी भारतीय काव्यशास्त्र की सीमा में पढ़े और परखे जा सकते हैं। यवन और रोम की संस्कृतियों के पतन के साथ वहाँ की विचार परम्परा टूटती रही है जिसे राजनीति के टाँकों से जोड़ा गया है और क्रिश्चियनिटी से चमकाया गया है। वह चमक वहाँ के विचारक पर से जा नहीं सकती चाहे वह अनीश्वरवादी ही क्यों न हो। फिर भी आज विश्वभर का विवेचना के धरातल पर सन्देश देने वाला भारत सब कहीं से सब कुछ अपने प्रकाश में देखने भर का स्वतन्त्र है तथा उसमें पूर्ण परम्परागत शक्ति विद्यमान है।

डा० मिश्र की यह स्थापना कि सत्य की अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्ति काव्य है' हमें भारतीय काव्यशास्त्र का चिरन्तन सिद्धान्त प्रत्यक्ष करा देती है। पश्चिम का इसे सौभाग्य नहीं कहा जायगा कि वहाँ काव्यानन्द को आत्मानन्द रूप नहीं माना गया—कम-से कम रस सिद्धान्त से पाश्चात्य

करता वञ्चित है अतएव उसे अपेक्षित महत्त्व नहीं मिल पाता। वहाँ यह अधिक देखा जाता है कि कवि किन परिस्थितियों की चपेट में बसा रचना करता है पर आज यह नहीं देखा जाता कि वह मानवमुक्ति का सम्यक् वहन भी करता है—मेरा तात्पर्य रसानुभूतिरूप भावमुक्ति से है जिसके अभ्यास से ही हम मानव चेतना को एक रूप में अनुभूतिगम्य बनाकर देशकालातीत मानवैक्य की प्रतिष्ठा कर सकते हैं।

भारत का योगी अपने ही लिए साधन नहीं करता, वह तो कवि को सौन्दर्य-सामग्री देकर जन जन तक साधनालभ्य आनन्द बिखेर देता है जिसे पात्रानुसार ही ग्रहण किया जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ दर्शन और काव्य का मूल पार्थक्य अव्यवहार्य रहा है—टकनीक् का अन्तर ही मान्य है। ऐसी इस मान्यता के विरुद्ध जब कुछ मित्रों ने मुझे विचलित करने वाली अपनी धारणायें पुरःस्थापित की तब मेरे समक्ष उपेक्षा कर देने के सिवा कोई चारा नहीं रह गया। अरविन्द के विषय में यह धारणा कि मानव जाति की मुक्ति के लिए किसी चेष्टा की आवश्यकता नहीं मैं अनुगत न कर सका क्योंकि अरविन्द का समस्त जीवन विश्वमुक्ति के प्रयत्न में पूर्ण रहा है तथा उनका 'दिव्य जीवन' योगी को सदा सप्रयत्न रहने का सन्देश देता है कि विश्व मानवता की मुक्ति में आने वाली बाधायें दूर होती रहें।

श्रीमान डा० जयदत्तसिंह जी की मुझ पर अहैतुकी अनुकम्पा रही है। इसीलिए जब मैंने रहस्यवाद—विषयक अपना एक निबन्ध भेज कर इस ग्रन्थ के लिए निर्देशों की प्रार्थना की तो उन्होंने साक्षात् तथा पत्रों द्वारा मेरे दृष्टिकोण का सम्पादन किया और अध्येतव्य सामग्री से परिचित कराया। प्रायः सोलह वर्षों से दुर्लभित स्नेहपात्र होने से मैंने उनकी विशालता तथा उदारता से बड़ा लाभ उठाया है। रहस्य-सम्बन्धी मेरी धारणा कितनी उनसे मिली है और कितनी स्वाधीन धारणों से, आज यह भी विविक्त करना मेरे लिए कठिन है। समग्र ग्रन्थ को स्वतः पढ़कर उन्होंने आशीर्वादों से अभिषिक्त कर दिया है अतः मैं निश्चिन्त हूँ। मैं अपनी सीमाओं से परिचित हूँ अतः जब मैंने इसकी भूमिका लिखने की प्रार्थना की तो उन्होंने स्वीकृत कर इस पुस्तक को अध्य तथ्य सामग्री प्रदान की है जिसके लिए मैं ही ऋणी नहीं इसके पाठक भी आभारी रहेंगे। सन्तों पर आपका दृष्टिकोण समग्रता एवं स्पष्टता में अद्वितीय है अतः यह कार्य आपके ही बूते का था।

इस पुस्तक के प्रणयन के लिए श्रीमान डा० सर्वेश मिश्र ने मुझे

ऐसी दशा म पश्चिम स उधार ले लेकर जब हमने विचारो से अपने को भरना चाहा तो यहा का प्रत्यक शब्द ऐसे नये अथ से विद्रोह करने लगा। जिस भारत म शब्द का सम्यक प्रयोग स्वगदायक माना जाता था वहा अब बाह्य सादश्य के आधार पर सेल्फ और आत्मा एक हो जात हैं। यहाँ का मनीषी अग्र जी कम जानता हुआ भी अ ग्रजी के पारिभाषिक शब्दो म सोचता और फिर सस्कृत का आँचल फाड कर उसमे उस अथ को लपेट कर कृतकृत्य हो लेता है। याकरण दर्शन और काव्य की दष्टि मे जो भारत विश्व मे एक रहा है उसके ये ही विषय अ ग्रेजी से अनदित होकर गौरव पाते हैं। काव्य शास्त्र का हमारा अब कोइ प्रतिमान पश्चिम की कसौटी पर खरा उतरे बिना मान्य नही होता। स्पष्ट है कि हम अपने रत्नो स ऊब गये हैं अत उन्हे फेंक कर बाहर का काच घर म भरने पर तुले हैं—हमारा तात्पय नवीन अवधारणाओ के विरोध म नहीं है पर भारतीय सौन्दय शास्त्र तक मूलग्रन्थो म न पढा जाकर अ ग्रेजी से पढा जाय तो सस्कृत के विद्यार्थी और हिन्दी के स्वाभिमानी अध्यता के लिए क्षमप की बात ही है।

इस निश्चय को रचनात्मक रूप तब मिला जब मैंने श्रद्धेय डा० भगीरथ मिश्र का समीक्षा–विषयक साहित्य पढा। वे भारतीय काव्यशास्त्र द्वारा काव्य के समीक्षक के रूप म मुझ दिखे और मैं इधर प्राय पाँच वर्षो म उनकी ओर निरन्तर आकृष्ट होता गया हू। उन्होने मेरे क्षमप को केवल निषधक होन से बचा लिया और विधि की शिक्षा म मोडा। मैंने सीखा कि पश्चिमीय समीक्षा सिद्धान्त भी भारतीय काव्यशास्त्र की सीमा म पढ और परखे जा सकते हैं। यवन और रोम की सस्कृतियो क पतन के साथ वहाँ की विचार परम्परा टूटती रही है जिस राजनीति के टाँकों स जोडा गया है और क्रिश्चियनिटी म चमकाया गया है। वह चमक वहाँ क विचारक पर से जा नही सकती चाहे वह अनी श्वरवादी ही क्यो न हो। फिर भी आज विश्वभर का विश्वचेतना के धरातल पर सन्देश देन वाला भारत सब कही स सब कुछ अपने प्रकाश म देखन भर को स्वतन्त्र है तथा उसम पूण परम्परागत शक्ति विद्यमान है।

डा० मिश्र की यह स्थापना कि 'सत्य की अपने पूण सौन्दय के साथ अभिव्यक्ति काव्य है' हम भारतीय काव्यशास्त्र का चिरन्तन सिद्धान्त प्रत्यक्ष करा देती है। पश्चिम का इसे सौभाग्य नही कहा जायगा कि वहाँ काव्यानन्द को आत्मानन्द रूप नहीं माना गया—कम से कम रस सिद्धान्त से पाश्चात्य

कला वञ्चित है अतएव उसे अपेक्षित महत्त्व नहीं मिल पाता। वहाँ यह अधिक देखा जाता है कि कवि किन परिस्थितियों की चपेट में वसी रचना करता है पर आज यह नहीं देखा जाता कि वह मानवमुक्ति का सन्देश वहन भी करता है—मेरा तात्पर्य रसानुभूतिरूप भावमुक्ति से है जिसके अभ्यास से ही हम मानव चेतना को एक रूप मे अनुभूतिगम्य बनाकर देशकालातीत मानवैक्य की प्रतिष्ठा कर सकते हैं।

भारत का योगी अपने ही लिए साधना नहीं करता, वह तो कवि का सौन्दर्य सामग्री देकर जन जन तक साधनालभ्य आनन्द बिखेर देता है जिसे पात्रानुसार ही ग्रहण किया जाता है। ऐसी स्थिति मे यहाँ दर्शन और काव्य का मूल पार्थक्य अव्यवसाय रहा है—टेकनीक का अन्तर हो मान्य है। ऐसी इस मान्यता के विरुद्ध अब कुछ मित्रों ने मुझे विचलित करने वाली अपनी धारणायें पुरःस्थापित की तब मेरे समक्ष उपेक्षा कर देने के सिवा कोई चारा नहीं रह गया। अरविन्द के विषय मे यह धारणा कि मानव जाति की मुक्ति के लिए किसी चेष्टा की आवश्यकता नहीं मैं अनुगत न कर सका क्योंकि अरविन्द का समस्त जीवन विश्वमुक्ति के प्रयत्नों से पूर्ण रहा है तथा उनका दिव्य जीवन यात्री को सदा सप्रयत्न रहने का सन्देश देता है कि दिव्य मानवता की मुक्ति में आने वाली बाधायें दूर होती रहें।

श्रीमान डा० जयदत्तसिंह जी की मुझ पर अहैतुकी अनुकम्पा रही है। इसीलिए जब मैंने रहस्यभाव—विषयक अपना एक निबन्ध भेज कर इस ग्रन्थ के लिए निर्देशों की प्रार्थना की तो उन्होंने सम्मान तथा पत्रों द्वारा मेरे दृष्टिकोण का संशोधन किया और अध्येतव्य सामग्री से परिचित कराया। प्रायः सोलह वर्षों से दुर्लभ्य स्नेहपात्र होने से मैंने उनकी विशालता तथा उदारता से बड़ा लाभ उठाया है। रहस्य सम्बन्धी मेरी धारणा कितनी उनसे मिली है और कितनी स्वाधीन शास्त्रों से, आज यह भी विविक्त करना मेरे लिए कठिन है। समग्र ग्रन्थ को स्वतः पढ़कर उन्होंने आशीर्वादों से अभिषिक्त कर दिया है अतः मैं निश्चिन्त हूँ। मैं अपनी सीमाओं से परिचित हूँ अतः जब मैंने इसकी भूमिका लिखने की प्रार्थना की तो उन्होंने स्वीकृत कर इस पुस्तक को अध्येतव्य सामग्री प्रदान की है जिसके लिए मैं ही ऋणी नहीं, इसके पाठक भी आभारी रहेंगे। सत्ता पर आपका दृष्टिकोण समझना एवं स्पष्टता में अद्वितीय है अतः यह कार्य आपके ही बूते का था।

इस पुस्तक के प्रणयन के लिए श्रीमान डा० भगीरथ मिश्र ने मुझे

अध्यापक का उत्तरदायित्व गहन है। विद्यार्थी स्वय भी अनुभूति-सम्पन्न नही होता अत काव्यशास्त्रीय विनान पर ही भरोसा रखकर उसे समझाना पडता है और जहाँ तक समझ जाती है कोई रहस्य नही रह जाता और जो अनुभूति म आ जाय वह भी उस क्षण रहस्य नही होता, केवल तक न आ पाने से तथा अरसिको द्वारा अवेद्य होने से ही कदाचित निगूढ के अर्थ म रहस्य नाम सार्थक है[1] —यो ग्रन्थ म व्युत्पत्ति द्वारा इस पर विचार हुआ है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दो से इस सन्दभ को समाप्त करता हू —

In this first place there is no mystry in what I teach What little I know I will tell you So far as I can reason it out I will do so but as to what I do not know I will simply tell you what the books say It is wrong to believe blindly You must exercise your own season and judgement you must practice and see whether these things happen or not Just as you would take up any other science exactly in the same manner you should take up this science for study There is neither mystery nor danger in it So for as it is true it ought to be preached in the public street in broad day light Any attempt to mystify these things is productive of great danger

Raja yoga—P 16

लखीमपुर खीरी   विजयदशमी २०२० वि०

बच्चूलाल अवस्थी ज्ञान



---

१ हिन्दी म Mystic और Mystery दोनों के लिए रहस्य ही आता है अत यहाँ द्वितीय अर्थ म प्रयोग समझना चाहिए।

१

प्रस्तावना

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ?
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।

—प्रसाद[१]

विषय-प्रवेश

साहित्यालोचन के क्षेत्र मे रहस्यवाद की अवतारणा हिन्दी समालोचना की विशेषता है और इस समय तक इस पर विविध प्रकार के विचारो का अच्छा क्षेत्र तयार हो चुका है। अत शास्त्रीय रीति से इसके स्वरूप निर्धारण का प्रयत्न असामयिक न होगा। यह तो निश्चित ही है कि 'रहस्यवाद' नाम से एक काव्यधारा मान्य हो चली है चाहे कोई उस काव्य म आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा[२] कह कर सुप्रतिष्ठित करना चाहे अथवा कविता की एक 'शाखा विशेष' माने काव्य का सामान्य स्वरूप नहीं।[३] यह अब निश्चित कहा जा सकता है कि कविता यदि जीवन से सम्पृक्त है और जीवन मे कहीं रहस्यात्मकता है तो कविता उस रहस्य स रहित हो ऐसा सम्भव नहीं यह दूसरी बात है कि उस रहस्य के भाव-पक्ष को हम रहस्य न मानें

१ कामायनी—आशा सग।
२ जयशङ्कर प्रसाद—रहस्यवाद (आरम्भ)।
३ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि—भाग २, पृ० ५० ।

और अज्ञाता की जिज्ञासा को भावुकतामात्र कह कर तिरस्कृत कर देना चाहें पर जीवन के विविध स्तरो की निरन्तर खोज चल रही है जो विज्ञान के क्षेत्र की वचारिक विभूति है और साहित्य जब उसी को भावात्मक रूप म प्रतीति गम्य बनाता है तो कोई कारण नही कि उस अकिंचित्कर कहकर उपेक्षित किया जाय। प्रस्तुत प्रबन्ध म इसी की विवेचना का प्रयत्न किया गया है।

अपेक्षाकृत सुस्पष्ट एव साङ्ग विवेचना के लिए सब प्रथम 'रहस्य शब्द का अथ विचारणीय है।

रहस्य शब्दाथ

रहस्य शब्द के त्रिविध अथ—व्युत्पत्तिकृत व्यावहारिक तथा दाश निक—इस सदभ म उपादेय हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द रहस' शब्द से यत प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है जिसका विग्रहवाक्य होगा—रहसिभव रहस्यम अर्थात 'रहस म होने वाले को रहस्य कहते हैं।[1] अब रहस शब्द को लें तो वह स्वत कृदन्त पद है जिसकी निर्पत्ति त्यागाथ रह धातु से 'असुन प्रत्यय' द्वारा हुई है।[2] अत रहस मे अन्य प्रमेयो का त्याग ही मुख्य अथ है जो एकमात्र प्रमेय को विधयरूप (Positive) देकर प्रस्तुत करता है। अर्थात—प्रमेयान्तरो के परित्याग द्वारा विषयासपृक्त मनोभूमि म होने वाली प्रतीति अथवा प्रतीयमान सत्ता ही रहस्य का व्युत्पत्ति लभ्य अथ है।

व्यावहारिक अथ उक्त अथ से दूर नही है। लोक म रहस्य का अथ निगूढ लिया जाता है। 'निगूढ वही होता है जिसके साथ अन्य प्रतीयमान तत्व का योग न हो। ऐसे रहस्य म एक ही ज्ञाता एक ही ज्ञेय और एक मात्र ज्ञानसाधन—मन की उपस्थिति रहा करती है। इसी त्रिपुटी का योग रहस्य' प्रतीति कराता है। रहस का व्यावहारिक अथ 'एकान्त लिया जाता है। एकान्त शब्द में बहुव्रीहि-समास है—एक अन्त यस्यस एकान्त। अर्थात जिसका एक ही अन्त या उद्देश्य (end हो वही एकान्त है। व्युत्पत्ति के मेल म देखें तो एक ही अथ के विधि पक्ष (Positive sid) को एकान्त शब्द प्रकट करता है तो उसी के निषेध पक्ष (Negative side) को रहस शब्द प्रकट करता है—दोनो म तात्विक अन्तर नही है। रहस एकान्त के बिना शून्य है

---

१ तत्र भव दिगादिभ्यो यत (पाणिनि सूत्र ४ ३ ५३ ५४)।
२ सवधातुभ्यो असुन् (उणादिसूत्र—चतुथ पाद)।

निष्प्रयोजन है तो एकान्त 'रहस' के बिना निराधार है। (यही एकान्त का मूल अर्थ है। शेष अर्थ अर्वाचीन हैं जो इसी से निकल कर प्रयोगों में आए हैं)।

'रहस्य' का दार्शनिक एवं शास्त्रीय अर्थ मर्म होने के साथ साथ एक अत्यन्त उपादेय अर्थ—उपनिषद्—भी है। इसी लिए 'वेद रहस्य' के अर्थ में वेदोपनिषद का प्रयोग वैदिक साहित्य में मिलता है।[1] आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनितत्त्व को काव्य का 'उपनिषद' बतलाया है।[2] सभी अर्थों में एकान्त लभ्यता अनुस्यूत है। इसीलिए काव्य का रहस्य रस है क्योंकि वह वेद्यान्तर स्पर्श शून्य[3] होता है और अन्य सब कुछ को तिरोहित करता हुआ[4] प्रकट होता है। यही कारण है कि रस को योगलभ्य रहस्यतत्त्व की अपेक्षा भी उत्कृष्ट बताने की अतिशयोक्ति आचार्य भट्टनायक ने अपनाई है— वाणी धेनु जिस रस दुग्ध को देती है उसके समान वह रस भी नहीं जिसे योगी दुहते हैं।[5]

परन्तु भट्टनायक जैसा पूर्व मीमांसा मनीषी यह न देख सका कि यदि योगियों का आलम्बन ही रस का भी आलम्बन बनाकर लाया जाय तो रहस्यात्मकता काव्य में दुगुनी हो उठेगी। वह आलम्बन और उसकी रसात्मक प्रतीति दोनों ही वेद्यान्तर-स्पर्श शून्य होकर आनन्द रूप में परिणत होती है जैसी कि श्रीमती महादेवी वर्मा की भावना है—

"आनम की दीपावलियाँ! पल भर का तुम बुझ जाना
करुणामय को भाता है तम के परदे में आना।

स्पष्ट है कि आस्वादरूप रस की अपेक्षा रहस्यकाव्य में आस्वाद्यमान या रहस्यमान रहस्यालम्बन तत्त्व विशेष महत्व का हो जाता है और यही उसकी विशेषता है। इसे और भी विविक्त करने के लिए रहस्य की भावानुभूति की प्रणाली पर दृष्टिपात अपेक्षित है।

---

१ एषा वेदोपनिषद्—तैत्तिरीयोपनिषद—आचार्यानुशासनम्।
२ ध्वनेः स्वरूपं सकल-सत्कवि-काव्योपनिषद्भूतम्—ध्वन्यालोक १ १
३ आचार्य विश्वनाथ—साहित्यदर्पण—रसनिरूपण।
४ आचार्य मम्मट—काव्य प्रकाश—रसनिरूपण।
५ वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद् बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥
'ध्वन्यालोक लोचन—१६ पृ०

रहस्य की भावानुभूति

का य म उपयक्त रहस्यतत्व की भावात्मक अनुभति होती है। इसके बिना उम का य नही क्ना जा सकता। अत रहस्य सत्ता को काव्य के स दभ म समझन के पूव रहस्य क भावात्मक स्वरूप और अनभूति पर विचार अपेक्षित है। इस विषय को प्रथम भाव अनभूति और रहस्यानभूति इन तीन खण्डो म देखा जायगा। फिर रहस्य की भावानुभूति स्पष्ट हागी।

क—भाव —का य शास्त्र म भाव क तीन रूप प्रचलित है। (१) एक भाव वह है जिसे वासना कहत है और जो प्रत्यक म एक रस याप्त रहता है। वय क्तिक भाव या चित्तवत्तियाँ इसी वासनारूप भाव से उत्पत्ति लेते हैं। वासना ही सभी म चित्तवत्तियो की प्रेरक शक्ति है। उदाहरणाथ वासनारूप क्रोध पहले स हम म विद्यमान रहता है जो कारण पाकर जब उदभत होता है तो तो क्रोधनामक मनावग का रूप लेकर विविध चष्टाओ—अधर—दशन नत्रो की रक्तिमा मष्टि बध आदि—क द्वारा व्यक्त हाता है। मक्डूगल के अनुसार वासनारूप भाव का मूल प्रवत्ति कह सकते हैं जिसे उन्होने इन्स्टिंक्ट नाम दिया है। यही वासनारूप भाव अवयक्तिक अथवा सामा य होता है। यह साधारणी भूत भाव सब म एक—रस रहकर का य द्वारा व्यक्त होता है और रस कहलाता है।[1] यह वासना सभी को अपने अविच्छेद्य त तु म पिरोकर भावात्मक रूप मे एक किये रहती है[2] अतएव रसानुभूति काल म सभी रहस्य एक ही अनभूति म लय प्राप्त करते हैं। इसी की देवी रूप म उपासना का आगमो म विद्यमान है।[3]

---

१ अस्म मते सवदनमेव आन दघनम आस्वाद्यते। तत्र का दु खा शङ्का? केवल तस्यव चित्रतावरण रति शोकादि—वासना-व्यापार तदुद्बोधन चाभिनयादि-व्यापार। अभिनव भारती—६ ३३ पृ० २९२

२ न ह्यतच्चित्तवृत्ति-वासना शू य प्राणी भवति। केवल कस्यचित् काचि दधिका चित्तवत्ति काचिदूना। कस्यचिदुचित-विषय नियन्त्रिता कस्य-चिद यथा। —वही पृ० २८३ ॥

या देवी सवभूतषु लज्जा रूपण सस्थिता।

—दुर्गा सप्तशती—अध्याय ५ ॥

(२) दूसरा भाव वासना का स्थूल उद्भूत रूप है जैसा कि ऊपर ही स्पष्ट हो चुका है। वही वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक लौकिक भाव है। चित्तवृत्ति मनोवेग, मानस व्यापार आदि से इसी का व्यवहार होता है। इसे चार प्रकार के अनुभावों—चेष्टाओं द्वारा प्रकट किया जाता है। कायिक वाचिक, सात्त्विक और आहार्य ये चार प्रकार के अनुभाव होते हैं जो भाव के कार्य रूप हैं और भाव इनका कारणभूत है। इन अनुभावों का अभिनय करके अथवा काव्य में शब्द चित्रित करके यहाँ लौकिक भाव उपस्थित किया जाता है और फिर इस लौकिक भाव के माध्यम से रसिकगत अलौकिक वासनामय भाव व्यक्त होता और रस दशा को पहुंचता है। अनुकार्य (आश्रय—नायकादि) का भाव इसी दूसरी कोटि का (लौकिक) है।

(३) तीसरा भाव वह है जो अनुकारक नट या कवि—में अनुमानगम्य होता है चतुर्विध अभिनय से इस भाव का इसी प्रकार अनुमान होता है जिस प्रकार धुआँ देखकर आग का। ऊपर के दोनों 'भाव' का अर्थ 'होने वाला' है—भवति इति भाव। परन्तु तीसरे भाव की व्युत्पत्ति 'भावयति इति भाव' है—अर्थात यह भाव सहृदय के भाव को भावित करता है तब रस की निष्पत्ति होती है।[1]

रस निष्पत्ति के परिप्रेक्ष्य में तीनों भावों पर समन्वयात्मक दृष्टिपात करें तो अभिनीत अनुभावों से नटगत भाव तृतीय अनुमित होता फिर नट की भूमिका रूप आश्रय का लौकिक भाव (द्वितीय) आता है और तदनन्तर रसिक अपने भीतर वासनारूप भाव प्रथम को व्यक्त पाता और रस—दशा में जा पहुंचता है।

ख—अनुभूति—भाव के स्पष्ट हो जाने पर अनुभूति तत्त्व का क्रम आता है। अनुभूति कौन-सा तत्त्व है जो काव्य रचना तथा काव्यास्वाद का साधन बनता है? व्युत्पत्ति की दृष्टि से वह भाव के पश्चात की घटना (अनु+भूति) है। भाव जब मानस—पटल पर उदित होता है तो भावक द्वारा उसका साक्षात्कार ही अनुभूति है। स्थायी भाव की ऐसी ही अनुभूति रस कही जाती है। यही साक्षात्कार आस्वादन है। 'अनुभूति' शब्द नया है। प्रतीति

---

१ नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥
—नाट्यशास्त्र ६ ३४ ॥

संविद आस्वाद आदि शब्द प्राचीन हैं। चवणा भी एक ऐसा ही शब्द है। इस प्रकार भावानुभूति, भाव चवणा, भाव संवित आदि एकार्थक शब्द हैं। इतना अवश्य है कि भावानुभूति प्राय कवि के लिए और भाव-प्रतीति, भाव चवणा आदि प्राय रसिक के लिए आते हैं।

जब वासनारूप भाव व्यापक है और सब में विद्यमान है तो उसकी सनातन अनुभूति क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का उत्तर वेदान्त के अनुसार दिया जा सकता है कि माया अथवा अज्ञान का हमारे ज्ञानत्व को ढके रहा करता है। यह ज्ञानतत्त्व ही अनुभूति पदार्थ है जो आत्मा का स्वरूप है। जब हम अनुभूति साक्षात्कार आदि कहते हैं तो हमारा तात्पर्य अज्ञानावरण के भंग से होता है। हमारे अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा अज्ञान का विच्छेद होता है[1] तो अनावृत होकर प्रतीति खिल उठती है यही अनुभूति है। इस अवस्था में अन्तःकरण का तन्मयीभाव हो जाता है।[2]

ग—रहस्यानुभूति—रहस्य-तत्त्व तत्त्वद्रष्टाओं तथा योगियों के साक्षात्कार की वस्तु है रहस्य चैतन्य सत्ता के शुद्ध रूप का नाम है जो सभी सांसारिक विषयों के त्याग या चरम निषेध द्वारा अपरिच्छिन्न होकर उपलब्ध होता है। कबीर ने स्पष्ट कहा है—

चींटी चाउर ले चली बीच में मिलि गई दारि।
कह कबीर दुइ न चल, इकलै दूजी डारि॥

अतः सांसारिक प्रतीतियों से रहस्य प्रतीति या रहस्यानुभूति भिन्न होती है। सांसारिक प्रतीति की प्रक्रिया यह है कि चित्तवृत्ति और चिति बिम्ब दोनों एक साथ विषय—घट आदि—को व्याप्त करते हैं। चित्तवृत्ति द्वारा अज्ञान के आवरण का नाश होता है और बिम्ब या आभास जो चैतन्य का ही रूप है, उस विषय के साथ रह जाता है यही ज्ञान है। यही प्रतीति लोक-व्यवहार में देखी जाती है। परन्तु रहस्य तो स्वयं ही चिति तत्त्व है अतः वहाँ चिदाभास या चैतन्य बिम्ब का उपयोग नहीं होता

---

१ बुद्धि-तत्स्थ चिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्॥
—पञ्चदशी-वेदान्तसार में उद्धृत।

२ चवणाऽस्य चिन्तावरणभंग एव—तन्मयाकारान्तःकरण वृत्तिर्वा।
—रस गंगाधर—रसनिरूपण सूत्र॥

केवल चित्तवृत्ति अज्ञानावरण भंग कर देती है और चैतन्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है। एक उदाहरण से इसे वेदान्त में समझाया गया है—दीपक जब अपने से पृथक घट को प्रतीति गम्य बनाता है तो अन्धकारावरण को हटाता और अपने प्रकाश मण्डल से घट को भासित कर देता है परन्तु जब दीपक अपने ही को प्रतीति गम्य करता है तो केवल अन्धकार हटा देता है और स्वयं ही स्फुरित हो उठता है। दीपक के समान ही चैतन्य या आत्मतत्त्व भी स्वयं प्रकाश है अतः सांसारिक प्रतीतियों से उसकी प्रतीति विलक्षण होती है।

इस योग की प्रक्रिया से यों समझ सकते हैं—जीव ज्ञाता है परम चैतन्य ज्ञेय है और चित्तवृत्ति ज्ञान का साधन है। यही ज्ञाता ज्ञेय-ज्ञान साधन की त्रिकुटी है। इन तीनों को क्रमशः प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण कहते हैं। सविकल्प समाधि में यह त्रिकुटी नहीं समाप्त होती और जीव परम चैतन्य का सूक्ष्म एवं स्थिर चित्तवृत्ति के प्रवाह में चलता हुआ बोध करता है। निर्विकल्प समाधि में चित्तवृत्ति अखण्ड आकार ले लेती है तो प्रमाता और प्रमेय का भेद मिट जाता है और दोनों का योग हो जाता है और त्रिपुटी समाप्त हो जाती है।[1]

यही 'रहस्यानुभूति' है जिसके लिए कबीर ने अपनी प्रणाली व्यक्त की है —

'सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति-निरति परचा भया तब खुल स्वयम्भु दुवार॥

ऊपर वेदान्त की रहस्यानुभूति स्पष्ट हो गई है। कबीर की रहस्यानुभूति किंचित् अन्तर से आई है। कबीर भक्त थे अतः सविकल्प समाधि के स्थान पर 'सुरति' और निर्विकल्प समाधि के लिए 'निरति' का प्रयोग है। यह प्रणाली 'रति' तत्त्व या प्रेम तत्त्व लेकर चली है। सुतरां रति = सुरति' और 'नितरां रति = निरति।'[2] सुरति भक्तसाधक की वह अवस्था है जिसमें प्रमाश्रय, प्रमालम्बन और प्रेम की त्रिपुटी बनी रहती है परन्तु निरति में अखण्डता उपलब्ध हो जाती है। यही भक्तों की रहस्यानुभूति है। सीता ने राम का प्रथम साक्षात्कार इसी प्रकार किया था—

१　देखिए-वेदान्त सार— अहं ब्रह्मास्मि निरूपण॥

२　श्रीमान् ठा० जयदेव सिंह के स्नेहसिक्त प्रवचन के आधार पर।

(सुरति) देखि रूप लोचन ललचाने ।
हरखे जनु निज निधि पहिचाने ॥

(निरति) थके नयन रघुपति छबि देखें ।
पलकन्हि हू परिहरी निमेखें ॥'

यह चित्र बाह्य साक्षात्कार का है। परन्तु कवि को प्रेम की वही प्रणाली अभिप्रेत है अतः परमानन्द की परिणति इस प्रकार होती है—

लोचन मग रामहिं उर आनी ।
दीन्हे पलक कपाट सयानी ।

यह अखण्डाकार में परिणत चित्तवृत्ति ही रहस्यानुभूति है जो सर्वात्मना अलौकिक है। भारतीय रहस्यानुभूति की प्रणाली थोड़े बहुत अन्तर से यही रहती। सूफी कवि जलालुद्दीन ने यही रूप में कहा है—

मैंने द्वैत दूर कर डाला है मैंने देख लिया है कि दोनों लोक एक हैं, एक मैं खोजता हूं एक मैं सुनता हूं एक मैं देखता हूं एक मैं पुकारता हूं। वही आदि है वही अन्त है वही बाहर है वही भीतर है।¹

यही बात बर्गसों ने इस प्रकार कही है—

यदि संसार के प्रति अनासक्ति पूर्ण हो जाय और वह अपने किसी भी एन्द्रिय प्रत्यय द्वारा किये किसी व्यापार के प्रति चिपके नहीं तो वही एक कलाकार की आत्मा होगी जैसा कि संसार ने पहले देखा न होगा। वह युगपत् समानरूप से प्रत्येक कला में पारंगत होगा या यों कहें कि वह सब को एक में परिणत कर देगा। वह वस्तुमात्र को उसके सहज शुद्ध रूप में देखने लगा।²

---

१ देखिए—कुमारी एवलिन अण्डरहिल—दि मिस्टिक वे—पृ० १५

2 Where this detachm nt complete Says Borgson did the soul no longer cleave to action by any of its percep ions it would be the soul of an art st such as the world has never yet seen It would excel alike in every art at the same time or rather it would fuse them all into one It would perceive all things in their native purity Ibid p 9 10

घ—रहस्य भावानुभूति—उक्त रहस्यद्रष्टा को ही 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू' की सत्ता मिलती है परन्तु साधारण कवि, जैसा कि हम काव्य शास्त्रीय आधार पर देखते हैं रहस्यानुभूति न करके रहस्य की भावानुभूति करता है। भावानुभूति की तन्मयता रहस्यानुभूति की तन्मयता से भिन्न होती है। रहस्यतत्त्व को आलम्बन विभाव के रूप में पहले बुद्धि द्वारा ग्रहण करके फिर भावना द्वारा उसे प्रतीति योग्य बनाकर भावात्मक अनुभूति में लाना साधारण कवि का काम होगा। 'रहस्यानुभूति' में चित्तवृत्ति अखण्ड रहती है और एक रस चिति में विश्राम पा लेती है परन्तु भावानुभूति में विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव के समेत स्थायीभाव की परिधि उस चैतन्य को घेरे रहती है। आवरणभङ्ग दोनों में समान है परन्तु वृत्ति में अन्तर है जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट कर दिया है जहाँ तक चैतन्य का सम्बन्ध है रसरूप भावानुभूति नित्य है स्वयं प्रकाश है परन्तु रति आदि स्थायी भाव के आधार पर वह अनित्य है और अन्य द्वारा प्रकाशित होती है। उसकी प्रतीति तो अवश्य वही है जिसे चैतन्यगत आवरणभङ्ग कहते हैं अथवा तन्मयता वाली चित्तवृत्ति कह सकते हैं परन्तु परब्रह्म के आस्वादवाली समाधि से वह पृथक् अवश्य है क्योंकि विभावादि विषय से युक्त चैतन्य की भावात्मक प्रतीति होती है। एक और अन्तर है कि यह प्रतीति समाधि से नहीं होती प्रत्युत काव्यशक्ति द्वारा कार्यरूप में उपस्थापित की जा सकती है।[1]

इसीलिए रस को ब्रह्मानन्द न कह कर 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा जाता है। उसे ब्रह्मानन्द का अनुज कह तो अधिक संगत होगा क्योंकि जो ब्रह्मास्वाद है उससे कुछ छोटी भाव सवलित प्रतीति रस है जो चैतन्यरूप होकर भी विशुद्ध नहीं रहता प्रत्युत विभावादि से घिर कर रञ्जित होकर आती है। इसीलिए आल्डस हक्सले महोदय ने इसे प्रायः 'सेकण्डहैण्ड' कहा है।[2] प्राय

---

१ चिदशमादाय नित्यत्वं स्व प्रकाशत्वं च सिद्धम्। रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वम् इतर भास्यत्वं च। चवणाचास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता तदाकारान्तःकरणवृत्तिर्वा। इयञ्च परब्रह्मास्वादात् समाधिविलक्षणा विभावादि विषय सवलित चिदानन्दालम्बनत्वात्। भाव्याच काव्यव्यापारमात्रात्॥—रसगंगाधर–प्रथमानन–रस॥

2 When poets or metafohysicians talk about the subject matter of the Perennial philosophy it is generally second hand
—The perennial philosophy p 4

द्वितीय श्रेणी कह कर उन्होंने उन कवियों को अलग कर लिया है जिन्हें वास्तविक रहस्यानुभूति भी होती है और भावानुभूति भी।

ट—रहस्य भावानुभूति की प्रक्रिया—आगे चल कर भावना तत्त्व पर विचार किया जायगा जिसकी मध्यस्थता कवि और रसिक दोनों के लिए अनिवार्य है। भावना की मध्यस्थता कवि की अनुभूति प्रणाली को दो स्थूल रूपों में प्रकट करती है—(१) विचार से भावना में होकर अनुभूति में जाना प्रथम प्रणाली है और (२) अनुभूति से भावना में होकर विचार में पहुँचना दूसरी। प्रथम को अभिव्यक्ति विषयप्रधान या दृश्यप्रधान या आब्जेक्टिव होगी क्योंकि उसे वर्ण्य विषय चाहे वह रहस्य ही क्यों न हो पहले से विचार में मिल चुका होगा जिसकी भावना करते करते वह अनुभूति के क्षेत्र में पहुँचेगा—यहीं द्वितीय श्रेणी की प्रतीति होती है प्रथमतः अनुभूति हो नहीं हुई है परन्तु दूसरी प्रणाली पूर्णतः आत्मप्रधान विषयिगत भावात्मक अथवा 'सब्जेक्टिव' होती है क्योंकि वहाँ आत्मतत्त्व अनुभूति में पहले आता है—ये ही अनुभव कभी वास्तविक रहस्यमावक हैं—फिर भावनागम्य होकर विचार में परिणत हो वाणी में व्यक्त होता है, जैसी कि गोस्वामी तुलसीदास की मान्यता है—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जो बरसइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥

विषयप्रधान कविता के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि कवि ने अनुभूति तक पहुँचने का कष्ट उठाया ही है। कलाचातुरी से भावनागत तथ्यों का वर्णनमात्र भी रसिक को हलना में ले सकता है और वह रस दशा को प्राप्त हो सकता है।

रसिक के लिए अनुभूति अनिवार्य है क्योंकि वही रसदशा है। वह काव्य में विभावादि तथ्यों को पहले विचारगत करता है फिर भावनागम्य कर अनुभूति में लाता है। आत्मप्रधान कवि की तुलना में रसिक की चाल उलटी हुआ करती है।

भाव ने भी गोस्वामी जी के समान ही कवि के लिए अनुभूति को प्राथमिकता दी है। कविता पढ़ कर या सुन कर हम नहीं जान सकते कि कवि की अनुभूति किस कोटि की है। इसके लिए कवि का व्यक्तित्व जानना परमावश्यक है।

रहस्य भावना

ऊपर अभिव्यक्ति और अनुभूति के मध्य में भावना की प्रतिष्ठा की

ओर संकेत किया जा चुका है। भावना द्वारा ही भाव की व्यजना संभव है[1] परन्तु भावना साक्षात् व्यंजक होती है, उसे अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती।[2] यह भावना कई नामों और प्रकारों में पाई जाती है —

१ नागेश भट्ट ने भावना का अर्थ 'पुन पुन अनुसंधान' किया है।[3] एक ही भावनीय पदार्थ का बारम्बार एकतानता के साथ चिन्तन ही भावना है।

२ वेदान्त मे इसी को निदिध्यासन[4] भी कहा जाता है जो प्रतीति के एकतान प्रवाह का ही नाम है। मनन[5] इसी की पूर्वावस्था है अत कभी कभी इस अर्थ में भी भावना का तथा भावना के अर्थ में मनन का प्रयोग हो जाया करता है। ऊपर गोस्वामी जी के उद्धरण में 'मति' शब्द इसी 'मनन' और फलत भावना अर्थ का देता है।

३ योग में भावना के अर्थ में ध्यान का प्रयोग हुआ है।[6]

४ न्याय मे भावना का पर्याय ही सा 'चिन्ता' शब्द आता है जिस की सहायता से 'पुञ्जान योगी को अद्वैत तत्त्व की प्रतीति होती है।[7] यह 'चिन्ता' भी अलौकिक साक्षात्कार का ही नामान्तर है।[8]

५ व्याकरण में 'भावना' का पर्याय व्यापार अथवा क्रिया है।[9] इसी भावना-व्यापार को महामुनि भरत ने 'भाव' नाम भी दिया है।[10]

---

१ भावस्यापि भावना द्वारव व्यञ्जकत्वात।—रसगंगाधर भावध्वनि।
२ भावनाहि द्वारान्तरमनपेक्ष्य रस व्यनक्ति।—उक्त स्थल पर भट्ट मथुरानाथ की टिप्पणी।
३ भावना पुन पुनरनुसंधानम्।—उक्त रसगंगाधर पर नागेश भट्ट टीका।
४ विजातीय-देहादि प्रत्यय-रहिताद्वितीय-वस्तु-सजातीय-प्रत्यय-प्रवाहो निदिध्यासनम।—वेदान्तसार
५ मनन तु अनवरतमनुचिन्तनम।—वही
६ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।—पातञ्जलयोगसूत्र ३ २॥
७ देखिए—न्यायसिद्धान्त मुक्तावली—कारिका ६६॥
८ मद्विषयक सयम तद्विषयकमलौकिक—साक्षात्कारात्मक ज्ञान भवति (चिन्ता)।—उक्त पर किरणावली-टीका॥
९ व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव क्रिया।—वैयाकरण भूषणसार १०५॥
१० भू इति करणधातु। तथा च भावित वासित कृतम् इत्यनर्थान्तरम् तच्च व्याप्त्यर्थम्।—नाटयशास्त्र-सप्तम अध्याय॥

६ यह भावना व्यापार व्यापना भी कहा गया है क्योंकि उसके द्वारा तन्मयीभावरूप व्याप्ति की उपलब्धि होती है। अर्थात भावना करते-करते ही हृदयानुकूल वस्तु के साथ तन्मयता हो जाती है।[1] यह याप्ति वसी ही है जसी की सूखी लकडी म आग की याप्ति होती है तो लकडी आग का रूप लेकर तन्मय हो जाती है।[2]

७ उपयुक्त व्यापनारूप भावना का ही भट्टनायक भावकत्व अथवा साधारणीकरण व्यापार कहा है।[3] तदनुसार काव्य का भावना नामक शब्द व्यापार विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव को अवयक्तिक अथवा साधारण रूप मे उपस्थापित करता है जिस म वे आस्वादित होने की योग्यता पा जाते हैं और रस के घटक तत्व बनते है। भट्टनायक की भावना मीमासा से ली गई है अत उसके तीन अग हैं—साध्य, साधन और इति कर्त्तव्यता।[4] रस साध्य है विभावादि साधन है और कविकृत शब्दाथ योजना इतिकर्त्तव्यता है। इस प्रकार इस भावना की याप्ति कवि स सहृदय तक रहती है।

८ ऊपर सूखी लकडी म आग की व्याप्ति के उदाहरण से स्पष्ट है कि लौकिक व्याप्ति को भी भावना कहते हैं जो मूलत अलौकिक व्याप्ति से अभिन्न है। तल म पुष्पादि गध की[5] अथवा वस्त्र म कस्तूरिका-गध[6] की व्याप्ति म लौकिक भावना देखी जा सकती है।

---

१ वाचिकाद्या अभिनया नियतता विजहत साधारणीभावमनु प्राप्ता सामाजिक जनमपि व्याप्नुवन्ति स्वचित-व्यापना द्वारण तेन भावयन्ति सामाजिकात्मानम्। —उक्त पर अभिनवभारती।

२ योऽर्थो हृदय सवादी तस्य भावो रसोद्भव।
शरीरंव्याप्यते तेन शुष्ककाष्ठ मिवाग्निना॥ (भाव—व्यञ्जना)
—नाट्यशास्त्र—७ ७॥

ध्वन्यालोक लोचन १ १ पर उदधृत है जहाँ बालप्रिया टीका ने ठीक ही भाव का भावना अथ किया है।

३ काव्यप्रकाश—तृतीय उल्लास—रसनिष्पत्ति।

४ मीमासा—न्यायप्रकाश—आर्थीभावना।

५ लोक पि च प्रसिद्धम। अहो ह्यनेन गधेन रसेन वा सवमव भावितम, वासितमिति। तच्च व्याप्त्ययम।—नाट्यशास्त्र—अध्याय ७॥

६ न हि कस्तूरिकागध वस्त्र तन्त्व विगत गुणस्याम शक्ते। न च तादृश गुणान्तरालक्ति मात्रमध्य भाविस्वात् स्वा नाम वस्त्राणा च विना

ऊपर जिस भावना की विवेचना की गई वह एकतान प्रतीति का प्रवाह है जो प्रमेय पदार्थ को तथा प्रमाता को व्याप्त कर लेती है, यही सारांश हुआ। आध्यात्मिक क्षेत्र में यह भावना दो प्रकार से उपयोगी है। एक तो जब तक पूर्ण आनन्द रूप रहस्यानुभूति की दशा नहीं आती तब तक इसी भावना में रहस्यतत्व को गम्य बनाया जाता है और धीरे धीरे मनोवृत्ति के स्थिर हो जाने पर साक्षात्कार रूप समाधि प्राप्त हो जाती है। दूसरे साक्षात्कार हो जाने पर भी विक्षेपकाल—समाधि के बाहर—में भावना द्वारा ब्रह्म तत्त्व के साथ सम्बन्ध अविच्छिन्न रखा जा सकता है।

काव्य में भावना द्वारा ही रसिक रसानुभूति तक पहुँचता है यह स्पष्ट हो चुका है। कवि भी पहले अनुभूति करके भावना में अनुभूत भाव का पुनः पुनः अनुसन्धान करता है तभी उसे अभिव्यक्ति के अनुरूप बना पाता है। हो सकता है कि कवि विचारगत तथ्यों को ही भावरूप में ढालना चाहे तो भी भावना का ही साँचा उसे आकार देता है। योगी के लिए भावना साधन मात्र है पर कवि के लिए वह साधन भी है और साध्य भी। भावना के बिना जब अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं तो निश्चय ही कवि को भावना की उपलब्धि साध्यरूप में अनिवार्य है और तभी वह साधन बन सकती है।

क्रोचे के अनुसार अनुभूति प्रातिभ प्रत्यय है या 'इण्ट्यूटिव नॉलेज' है जिसकी आन्तरिक अभिव्यञ्जना भावना है।

रहस्यभाव की भावना बनाम रहस्यभावना

यों 'रहस्य भावना' नाम से ही 'रहस्य की भावात्मक भावना' को भी प्रतिपादित कर लेते हैं परन्तु दोनों में अन्तर है। प्रथम यौगिक उपलब्धि का विषय है तो द्वितीय काव्योपलब्धि की वस्तु है। योगी रहस्यतत्व की साक्षात भावना करता है जब कि कवि उसी की भावात्मक भावना करता है। ऊपर पण्डितराज के उद्धरण में यही अन्तर स्पष्ट हो चुका है। हो सकता है कि किसी कवि ने रहस्य का साक्षात्कार किया हो, पर कवि से उसका योगी का रूप पृथक होगा। साक्षात भावना करके भी कविता के लिए तन्विषयक भाव की भावना अपेक्षित होगी। साक्षात्कर्ता अपने साक्षात्कृत सौन्दर्य को प्रतिमा की डाली में भर कर कवि को भेंट करता है—

प्रतिपत्त । केवल कस्तूरिका द्रव्यमेव तावद्रूपदेश चतयात्मगमन-स्वभाव वस्त्वान्तरेऽपि तथा प्रतिपत्तिमावहते ।—उक्त पर अभिनव भारती ।

"मैं इन अपलक नयनों से देखा करता उस छवि को, प्रतिभा डाली भर लाता, कर देता दान सुकवि को। आँसू भाव की भावना को ले कर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—

मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य भूमि है।[1]

रहस्यवाद शब्द का अर्थ

भारत के लिए रहस्य और वाद शब्द पृथक्-पृथक् जितने पुराने हैं उतना ही अर्वाचीन है समस्त पद— रहस्यवाद। इस पद का घटक 'वाद' शब्द विशेष महत्त्व का है।

वाद शब्द की निष्पत्ति वद् धातु+घञ् प्रत्यय = वद+अ से हुई है अतः इसका अर्थ कथन से मिलता जुलता है। न्यायदर्शन में वाद एक प्रकार की 'कथा' है जिसमें सिद्धान्त के पोषक तथ्यों का समाहार होता है।[2] शक्तिवाद, व्युत्पत्तिवाद आदि में ऐसे ही प्रयोग हैं। आगे चलकर सिद्धान्त[3] के ही अर्थ में वाद का प्रयोग चल गया दीखता है जब न्यायसिद्धान्त, साङ्ख्यसिद्धान्त और वेदान्तसिद्धान्त को क्रमशः आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद कहते हैं। मायावाद, सत्कार्यवाद, परमाणुवाद आदि भी सिद्धान्तार्थक प्रयोग हैं। सिद्धान्त चार प्रकार के बतलाये गए हैं—

१ सर्वतन्त्रसिद्धान्त जो सभी शास्त्रों में मान्य हो[4], जैसे पृथ्वी का आकर्षण।

२ प्रतितन्त्रसिद्धान्त शास्त्र-शास्त्र का पृथक् होता है[5], जैसे वेदान्त का मायावाद।

३ अधिकरणसिद्धान्त आधारभूत होता है जो दूसरे सिद्धान्त की सिद्धि में उपयोगी होता है[6] जैसे बृहस्पति सिद्धान्त ग्रहणसिद्धान्त का आधार है।

---

१ चिन्तामणि—भाग २ पृ० ८०।
२ न्यायसूत्र १ २ १॥
३ वही १ १ २६॥
४ वही १ १ २८
५ वही १ १ २९
६ वही १ १ ३०

४ अभ्युपगमसिद्धान्त, जो बिना सिद्ध किए मान लिया गया हो[1], जैसे आजकल विविध ग्रहों के धरातलों के विषय में कुछ अपुष्ट सिद्धान्त (hypothesis) निर्धारित करके अन्तरिक्षयात्रा चल रही है।

'रहस्यवाद' साहित्य का प्रतितन्त्रसिद्धान्त है, क्योंकि वह चाहे जैसे भी हो साहित्यालोचन के क्षेत्र में ही गढ़ा और माना गया है। अत यह आवश्यक नहीं कि विषयान्तर की मान्यताएं उस पर पूर्णत लागू की जाय। अलबत्ता, उसे भी विषयान्तर से बच रहना है, अन्यथा आत्महानि ही उसके हाथ लगेगी।

साहित्य में रहस्यवाद का दो स्थूल प्रकारों में प्रयोग होता है—

(क) काव्यशास्त्र अथवा साहित्यालोचन के क्षेत्र में वह एक सिद्धान्त है जिसमें रहस्य को काव्य तत्त्व मानकर विवेचना की जाती है कि किस काव्य में रहस्यतत्त्व की व्यंजना हुई है किसमें नहीं। 'रहस्य तत्त्व उपनिषदों की परम्परा से गृहीत होगा पर 'वाद' के अधीन यह समस्त विवेचना काव्य शास्त्रीय होगी।

(ख) काव्यरचना के क्षेत्र में 'वाद' का अर्थ धाराविशेष, प्रवृत्तिविशेष और शैलीविशेष होगा। प्रसाद जी ने रहस्यवाद को काव्य की मुख्य धारा कह कर उसकी व्याप्ति वैदिक काल से अविच्छिन्न मानी है। परन्तु प्रसाद जी के समान सभी कवियों का, जो अलौकिक आलम्बन का व्यंजना करते हैं, रहस्यवादी धारा के मूल कवि न मान लेना चाहिए फिर भी वे उसी प्रवृत्ति के कवि कहे जा सकते हैं श्रीमती महादेवी वर्मा का एक उदाहरण रहस्यवादी प्रवृत्ति का परिचायक है —

'तेरा अधर-विचुम्बित प्याला,
तेरी ही स्मित-मिश्रित हाला
तेरा ही मानस-मधुशाला।
फिर पूछू क्या मेरे साकी !
देते हो मधुमय विषमय क्या ?
तुम मुझ में प्रिय ! फिर परिचय क्या ?'

शैली विशेष का भी एक उदाहरण 'आँसू' से द्रष्टव्य है—

---

१ वही १ १ ३१

शब्दों में कह सकते हैं—'मिस्टिसिज्म जहाँ से अपना मुख्यार्थ बदल कर लक्ष्यार्थ में या व्यावहारिक लौकिक अर्थ में प्रवेश करता है हमारा रहस्यवाद वहाँ से अपना मूल अर्थ लेकर चलता है 'मिस्टिसिज्म' का वाच्यार्थ उसकी सीमा में आता ही नहीं।

एक बात और ध्यान देने की है कि रहस्य और मिस्टी पर्याय हो सकते हैं। रहस्य और मिस्टिक नहीं अतः 'वाद' और 'इज्म' का जहां पर एकार्थक मान लेते हैं वहाँ भी रहस्यवाद मिस्टी इज्म अर्थ ही अधिक देता है 'मिस्टिसिज्म' अर्थ सुदूराकृष्ट लगता है परन्तु मिस्टी शुद्ध संज्ञापद है जब कि 'रहस्य' संज्ञा विशेषण उभयात्मक है अतः ठीक से व्याकरण-सम्मत अनुवाद बनेगा—इसमें सन्देह ही है।

अन्त में, यह मान लेना उचित ही है कि किसी प्रकार हो हमारा 'रहस्यवाद' अब पूर्ण प्रतिष्ठित भाषान्तर निरपेक्ष बहु प्रचलित स्वतन्त्र पारिभाषिक शब्द हो गया है। भाषा के भण्डार में ऐसी भ्रान्ति निश्चय उभय आधारों के बहुत से शब्द खोजे जा सकते हैं अतः इस प्रसंग की आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं रहा है।

रहस्यवाद—विषयक वैमत्य और भ्रान्त धारणायें

१ इन पंक्तियों के लेखक के रहस्यवाद विषयक एक लेख के लिए श्री जयदेव सिंह ने लिखा था 'आपने 'रहस्यवाद' को सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से परखने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से आपने जो कुछ लिखा है वह ठीक ही है।'[1] इस उद्धरण से श्रद्धेय ठाकुर साहब की अरुचि का संकेत मिलता है जिसका स्पष्टीकरण ऊपर हो भी चुका है। कवि की अभिव्यक्ति में सत्य और सौन्दर्य पृथक नहीं होते यदि सौन्दर्य सत्ता अलौकिक निःसीम हो और उसी में चिरमंगल की प्रतिष्ठा कवि का काम्य हो। कम से कम प्रसाद जैसे मनीषी कवि की यही निश्चित धारणा है—

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवनसंगी कल्याण कलित इस मग के। —आँसू

वस्तुतः वह दशा सत्य से कब-कहाँ-कैसे दूर है जब कवि साक्षी है—

---

१ उक्त पत्र का प्रारम्भिक अंश।

'निर्झर सा थिर थिर करता माधवी कुंज छाया में
चेतना बही जाती थी हो मन्त्र मुग्ध माया में।'—वही

और जब योरप के कवि वर वर कीट्स स्पष्ट घोषित करते हैं—'सौंदय सत्य है सत्य सौन्दय।' तब कैसे कहा जाय कि परम तत्व के तीनों पक्ष—सत्य शिव और सुन्दर—परस्पर भिन्न रह भी सकते हैं वे तो सांख्य के तीन गुणों के समान परस्पर-वर्ती अन्योन्याश्रय आदि ही रहेंगे। इसी प्रकार की सौंदय मयी प्रणयदृष्टि से देखने वाली गोपियों ने उद्धव से (रत्नाकर की कल्पना में) कहा था—

ऊधौ ब्रह्मज्ञान को बखान सब जाते भूलि,
देखि लेते कान्ह जो हमारी अँखियान तें।'—उद्धव शतक

परन्तु कवि की ही आँखों से सभी देखने लगे यह मिलन कभी पूरा होगा इसमें बीसवीं शती की वैज्ञानिक सवल्लाविनी धारा ने बहुत बड़ा संदेह पैदा कर दिया है। आज विचारणीय तो यह है कि असीम को जगत में देखना एक है परन्तु जगत् को ही असीम बना लेना दूसरी बात है जो भ्रान्त है। असीम सौंदय, अनन्त सौन्दय कणों में बिखरा है और उन कणों में असीम की व्याप्ति देख लेना कवि साधक का काम है कवि मानी का काम नहीं। प्रसाद का सौंदय यद्यपि कणमात्र नहीं है—

सौन्दय जल राई सा जिस पर वारी बलिहारी,
उस कमनीयता कला की सुषमा थी प्यारी प्यारी। —आँसू

परन्तु कमनीयता की कला मात्र है सम्पूर्ण कमनीयता नहीं। इस सूक्ष्म विवेक के बिना तो सभी काव्य रहस्यवादी हो उठेंगे।

२　इस विषय को अन्य विद्वानों ने भी विचारणीय महत्त्व दिया है। प्रभाकर माचवे का 'रहस्यवाद' पर लेख न केवल ऐतिहासिक विकास क्रम पर प्रकाश डालता है अपितु ऐसी काव्यधारा का अन्तर्निहित तत्त्व भी हृदयंगम कराना चाहता है। परन्तु जब उमर खय्याम जैसे विद्रोही कवि की तुलना में भगवान शङ्कर का उद्धरण प्रस्तुत कर देते हैं तो कमत्य को सिर उठाने का बहुत बड़ा कारण मिल जाता है। खय्याम इसलाम के ओदर्शवाद के विरुद्ध विद्रोह करने मंसूर के अनलहक की शरण लेता है जो उसके बुद्धिवाद का उन्मत रूप भले ही मान लिया जाय पर शङ्कराचार्य के जोड़ में कैसे बिठाया

जायगा ?[1] इस विद्रोह की धारा ही तो भारतीय उर्दू साहित्य में आशिकाना गजलों में पाई जाती है। मोमिन के इस प्रसिद्ध शेर को लें—

तुम मेरे पास होते हो गोया
जब कोई पास नहीं होता।

इसे कवि की शुद्ध रहस्यानुभूति माना जाय, इसमें पूर्व कवि का व्यक्तित्व बाधक बन जाता है और दिखता है कि प्रेयसी के लौकिक सान्निध्य को ही अलौकिक महत्व दे डाला गया है। अब कुछ इस प्रकार होगा—'जिस प्रकार विषयान्तर सान्निध्य का परित्याग करके ही परमात्मा मिलता है उसी प्रकार प्रेयसी का मिलन भी अन्य सान्निध्य का त्याग चाहता है। ऐसी कविताओं को रहस्यवादी प्रवृत्ति का उदाहरण माना जाय, तभी ठीक है।

डा० रघुवंश ने अनेक पृष्ठों में छायावादी काव्यधारा को पतनोन्मुख बतलाते हुए आधुनिक काल की रहस्यवादी कही जाने वाली कविताओं के विषय में सन्तोषप्रद सम्मति नहीं दी है।

बाद में इस भ्रम से आकर्षित हो कर कुछ कवियों ने अपनी छाया वादी कविता को रहस्यात्मक भूमिका प्रदान करने का सचेष्ट प्रयास भी किया है। बौद्ध-दुःखवाद आनन्दमूलक अद्वैतवाद(शैवागमों का)तथा सूफी और सन्तों के प्रेममूलक अद्वैतवाद आदि का आधार प्रस्तुत किया गया। पर इस बौद्धिक प्रयणीयता में रहस्यात्मक स्तर का आत्मिक आन्दोलन और भावावेग नहीं है। प्रतीकों जुटान तथा व्यक्तिगत प्रेम आदि भावना का निर्वैयक्तिक आधार

---

१ उमर खय्याम की भावभूमि पर अद्वैतवाद का बड़ा प्रभाव है। जब वह लिखता है

The drop wept for his severance from the sea
But the sea smiled for, I am all said he
Yea God is all in all there s none besides
But one poind circling seems diversity'

तब श्रीमद् शङ्कराचार्य का पद स्मरण होता है

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥'

—हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां—पृ० ४२

प्रदान करने से इस काव्य में रहस्यात्मक अभिव्यक्ति का आभास अवश्य आ गया है। पर इस काव्य में आत्मोत्सग की भावना का नितान्त अभाव है क्योंकि मूलत छायावादी कवि अहवादी है। और इस अह' की भावना के रहते आत्मोत्सग सभव नही और बिना आत्मोत्सग के (अह के पूण विलय के) आध्यात्मिक मिलन सुख की कल्पना नही की जा सकती। इस प्रकार आधुनिक छायावादी कविता के रहस्याभास को प्राचीन साधनात्मक रहस्यवाद मानना भ्रामक है।[1]

अधिकारी एव विद्वान लेखक के निणयों पर भी विवाद उठाये जा सकते हैं।

क जब छायावादी काव्य म रहस्याभास ही है तो 'रहस्यवाद के पीछे साधनात्मक विशेषणपद लगाने की क्या आवश्यकता ? क्या 'भावात्मक रहस्यवाद किसी अर्थ मे माय है ?

ख 'अह के पूण विलय से क्या तात्पय है ? 'अहम् का यदि जीव अथ है तो अद्व तवा‍दी दर्शनों को छोड कर शेष दर्शनों म पूण विलय की बात ही नही उठती। यदि अहकार' अथ है तो दर्शन नव म पूण अहता शिवतत्व से पृथक् नहीं। अहता की पूर्णावस्था क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर सदा विवादग्रस्त रहेगा जब तक आलोचक स्वय लय प्राप्त करके विवादातीत न हो ले।

ग कोई भी वाद' अनुभूति न हो कर अभिव्यक्ति होता है तब रहस्यात्मक अभिव्यक्ति' को रहस्यवाद न कहे तो क्या अनुभूति को कहेंगे ? ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है मिस्टिसिज्म के कुहासे से रहस्यवाद को हटा कर ही हिन्दी मे लेना होगा। विचार या सिद्धान्त को वाद' कहते हैं पर वे अभिव्यक्ति के ही आन्तरिक एव बौद्ध पक्ष हैं।

घ 'आत्मोत्सग तो रसानुभूतिमात्र की अनिवाय शत है जिसके

---

[1] हिन्दी काव्य की प्रवृत्तिया—भूमिका पृ० १६॥

बिना साधारणीकरण ही पूर्ण नहीं होता[1] अतः इसका तात्पर्य फिर भी स्पष्ट नहीं। काव्य के सन्दर्भ में कवि का व्यक्तित्व कुछ सीमा तक ही ग्राह्य होता है। फिर कवि भावानुभूतिमग्न होगा तो निश्चय ही आत्मोत्सर्ग करेगा और यदि नहीं, तो रसकाव्य और रहस्यकाव्य दोनों के लिए एक-सी बात रहेगी।

ङ 'व्यक्तिगत प्रेम को निर्वैयक्तिक आधार देने की बात सन्तों और सूफियों पर भी लागू है या फिर आधार शब्द भ्रामक है। प्रेम तो सभी का व्यक्तिगत होगा आलम्बन ही निर्वैयक्तिक हो सकता है और 'आधार' का अर्थ आलम्बन' लें तो खण्डन समझ में नहीं बठता। कदाचित् कहना यह अभीष्ट है कि व्यक्ति से किया हुआ प्रेम ही निर्वैयक्तिक रूप में चित्रित किया जाता है अर्थात् आलम्बन 'व्यक्ति' है पर उसे 'समष्टि' का जामा पहना कर लाया जाता है। परन्तु उक्त उद्धरण के शब्द भ्रम में डाल देते हैं।

च 'प्रेषणीयता सन्त 'बौद्धिक' स्तर की होगी अतः शिकायत व्यर्थ है। 'रहस्यात्मक स्तर' अनुभूति का है प्रेषणीयता का नहीं। अन्यथा कबीर अपनी रहस्यानुभूति में साधारण पाठक का खींच ले आकर अद्वयानन्द-लीन कर देते फिर यह क्यों कहते कि—

'जो दीसै सो तो है नाहीं है सो कह्या न जाई।

अनुभूति कल्पना और बुद्धि के सांचे में से होकर अभिव्यक्ति द्वारा प्रेषणीय बनता है और सहृदय की बुद्धि और कल्पना में जा कर अनुभूति रूप में द्रवता प्राप्त कर लेती है, यही रसानुभूति है। कदाचित् कहना यह है कि प्रेषणीय अनुभूति रहस्यात्मक स्तर की नहीं है।

■ 'आध्यात्मिक मिलन-सुख सभी दर्शनों का एक नहीं है। निरपेक्ष आत्मस्वरूप या चिदानन्द क्या है इसे जहाँ दार्शनिक रूप दिया गया कि जितना और जिस प्रकार का बुद्धि के सांचे में आया वैसा और उतना ही सत्य मान लिया जाता है फलतः निरपेक्ष भी 'सापेक्ष' हो जाता है। ऐसी दशा में आधुनिक काव्यधारा के रहस्यवाद का जो अपना दर्शन है उसे बिना आत्मसात किए उसका बहिष्कार कर चलना विवेचक दृष्टि की एक पक्षीयता अवश्य है।

३ हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे मनीषी भी हैं जो रहस्यवाद को एक काव्यधारा के रूप में मान्यता देते हैं। इसे यदि भ्रान्ति ही मान लें तो भी अंग्रेजी के आलोचना साहित्य से विशेष सहायता नहीं मिलेगी।

---

१ तत्काल निवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनातः एव प्रमुष्ट-परिमित प्रमातृत्त्वादि निजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरी क्रियमाणः रसः। —रसगङ्गाधर पृ० २६।

वहाँ भी 'रिचर्ड्स' जैसे समीक्षक शेली में रहस्यतत्व खोजते हैं।[1] इतना ही नहीं 'जोसेफ वेम्स' ने 'ब्लिके टु मिस्टिसिज्म' में मिल्टन, वर्ड्स वर्थ जैसे कवियों के उद्धरण दिये हैं जिन्हें 'रहस्य कवि' मान लें और प्रसाद और महादेवी को फिर इसीलिए दुत्कारे रहें कि वे अपने हैं तो अर्धजरतीयन्याय है। अग्र जी साहित्यालोचन में भी यह भ्रांति या दुविधा बराबर बनी रही है। एक निर्णय के रूप में कुमारी एवलिन अण्डरहिल की मान्यता है।

'हम प्रत्येक को जिसने आंशिक तथा कलात्मक सहजानुभूति उस सत्य की पा ली है 'मिस्टिक' नहीं कह सकते जैसे कि हम उस संगीतज्ञ नहीं कहते जिसने पियानो बजाना सीख लिया है। सच्चा मिस्टिक' वही है जिसमें तादृश शक्तियाँ कोरी कलात्मक तथा कल्पनात्मक स्थिति को पार कर जाय और प्रतिभा की उस सीमा को आक्रान्त कर लें जिसमें प्रत्यक्ष चेतना साधारण चेतना को नासित कर चलें और जिसने निश्चित रूप से अपने को सत्य के आनन्दमय आलिंगन में समर्पित कर दिया हो।[2]

इस उद्धरण से कतिपय निष्कर्ष निकाल लेते हैं।

क रहस्यात्मा की अपेक्षा में जीवात्मा गौण होकर अपनी वृत्तियों निखिल कर दे तभी रहस्यानभूति का सच्चा रूप होगा और वही मिस्टिक का धरातल है।

ख रहस्यमयता का धरातल 'मिस्टिक' छोड़ नहीं सकता सदा उसी में रमता है। जिसका अद्वततत्व नष्ट हो चुका है वह भी यदि निखिल आचरण करता रहे तो तत्व द्रष्टाओं और कुत्तों में क्या भेद जब कि दोनों अशुद्ध

---

1 I A Rechards—The mystical elements in Shelley s poetry
The Aryan Path June 1959 P 256

2 We do not call every one who has these partial and artistic intutions of reality a mystic any more than we call every one a musician who has learned to play the piano The true mystic is the person in whom such powers transcend the merely artistic and visionares stage and are exalted to the point of genius in whom the transcendental conscious ness can dominate the normal consciousness and who has definitely surrendered himself to the embrace of Reality
—Mysticism' P 75

भक्षण में लीन है ?" जाग्रत दशा में प्राणी का उसी प्रकार भान नहीं होता जैसे वह सुषुप्ति में लीन हो, क्योंकि समस्त द्वैत को देखता हुआ भी वह अद्वैतभाव में रहता है। इसी प्रकार जो सब कुछ करता हुआ भी निष्क्रिय हो वही आत्मज्ञ है अन्य नहीं यह निश्चय है।[1]

ग फिर भी कल्पना और कला में सत्य तत्त्व की क्षणिक अथवा कतिपय क्षण स्थायी प्रतीति एक झलक के रूप में उपलब्ध हो ही जाती है और वह प्रतीति अन्यरूपा होती है तब भी कल्पनामात्र एवं कलामात्र के आधार पर कोई रहस्यानुभावक नहीं बन सकता। रहस्योपासक तो उस दशा से विरत ही नहीं होता जब कि कलाकार कला से बाहर संसारी हो जाता है।

घ इतना अवश्य है कि उसी परम सत्य की क्षणिक आभा कवि भी प्राप्त कर सकता है।

४ इतने वक्तव्य के बाद आवश्यक है कि उसे संक्षेप में समझ लिया जाय। हम उक्त समस्त मतों को तीन मोटे भागों में विभक्त कर सकते हैं—

क कुमारी अण्डरहिल आदि ने शुद्ध रहस्य साक्षात्कार तथा पूर्ण तत्त्वदर्शन को मिस्टिसिज्म माना है जहाँ हृदय की आवरणात्मक गाँठ छूट जाती, सभी संशय छिन्न हो जाते, समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं क्योंकि वह परावर तत्त्व साक्षात्कृत हो जाता[2] और जीव को स्वशासित कर लेता है। साधारण कवि ऐसा साक्षात्कर्ता नहीं होता क्योंकि वहाँ भाव विभाव आदि की अथवा कल्पना की मध्यस्थता होती है। मध्यस्थ के हटते ही प्रतीति फिर समाप्त हो जाती और कवि की विभूति तिरोहित होकर उसे सनातन विरही बना कर रह जाती है जब उक्त प्रतीति सबेरे का स्वप्नमात्र ठहरती है—

'गौरव था नीचे आए प्रियतम मिलने को मेरे,
मैं इठला उठा अकिंचन देखे ज्यों स्वप्न सबेरे ॥ —आँसू

तत्त्व द्रष्टा का साक्षात्कार मध्यस्थ नहीं चाहता। 'साक्षात्' का यही अर्थ ही है। यही बात आल्डस हक्सले ने कही है—

---

१ वेदान्तसार में उद्धृत।
२ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ —वेदान्तसार में उद्धृत।

'कला अथवा प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति दिव्य भूमिका की साक्षात एव अद्वय प्रतिपत्ति की सजातीय हो सकती है परन्तु वह वही अनुभूति नही है, और कोई विशिष्ट सौन्दर्य-तथ्य अनुभूतिगत होकर चाहे किसी सीमा तक दिव्य भाव का अगत सधर्मा हो तो भी अनेकत्र उस दिव्य भूमिका से पृथक ही रहता है। कवि प्रकृति प्रेमी सौन्दर्य प्रणयी जनो को सत्य की वही प्रतीति प्रदत्त है जो वास्तव तत्त्वद्रष्टाओ को मिली हुई प्रतीतियो की कृपा से तत्सदृश होता है परन्तु क्योकि उन्होने अपने को पूर्ण आत्माभिमानहीन (सल्फलैस) बनाने का कष्ट नही उठाया है इसलिए उस दिव्यतत्त्व-सत्य को पूर्णरूप मे जैसा कि वह वस्तुत है जानने मे अयोग्य ही रह जाते हैं।'[1]

इसीलिए आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने शान्तरस के विषय मे जो कुछ कहा है वह यहाँ सटीक बैठ जाता है—

शान्त आनन्द आदि विशुद्ध धर्मों से समवेत कल्पनाजनित विषयो की रञ्जना से शून्य शुद्ध आत्मा ही शान्त का स्थायीभाव है तत्त्वज्ञान सभी अन्य भावो की चित्रण भित्ति है सभी स्थायियो मे स्थायितम है जो रति आदि अन्य आठो ही स्थायी कही जाने वाली चित्तवृत्तियों को अपनी अपेक्षा मे व्यभिचारी कर लेता है।[2]

---

1 The experience of beauty in art or in nature may be qualita tive by akin to the immediate Unitive experience of the divine ground or god head but it is not the same as that experience and the particular beauty fact experienced though partaking in some sort of divine nature m at seve ral removed from god head The poet the nature lover the aesthete ar granted apprehensions of Reality analogaus to those Vouch safed to the selfless contemplative but because they have not troubled to make themselves perfectly selfless They are incapable of knowing the divine beauty in its full ne s as it is in itself –The perennial philosophy-p 158 159

२ ज्ञानात्मक शानानन्दादि विशुद्ध धर्मयोगी परिकल्पित विषयोपराग रहितोऽत्र स्थायी तत्त्वज्ञान तु सकल भावान्तर भित्ति स्थानीय सर्वस्थायिभ्य स्थायितम सर्वा रत्यादिका स्थायी चित्तवृत्ती व्यभिचारीभावयत निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावम्।   —अभिनवभारती पृ० ३३६

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर जिन उदाहरणों को आँसू से देकर रहस्यवादिता की पुष्टि की गई थी व सब श्रृङ्गार रस के हैं अतः 'राम स्थायीभाव के न होने से न तो शान्तरस में आयेंगे और न ही रहस्यकाव्य कहला सकेंगे क्योंकि शान्तरसकाव्य ही रहस्यकाव्य होगा और उसका आलंबन निरपेक्ष सत्य ही होगा। शान्तरस का विभाव तत्त्वज्ञान वैराग्य आशयशुद्धि आदि को माना गया है।[1] कामायनी में कवि प्रसाद का यही शान्तरस है जिसके अधीन श्रृङ्गारादि व्यभिचारी रस हो गये हैं। डा० रघुवंश की स्थापना को इसी रूप में समझा जा सकता है।

ख दूसरे मनीषी रहस्यवाद और मिस्टिसिज़्म दोनों को काव्यधारा और काव्यप्रवृत्ति के रूप में देते हैं। जोसेफ जेम्स जयशंकर प्रसाद और प्रभाकर माचवे ऐसे ही मनीषी हैं। इनकी दृष्टि में काव्य का रहस्यवाद एक एतिहासिक प्रवृत्ति है जिसके मूल में आध्यात्मिक साधना तथा चिन्तन रहा करता है परन्तु सर्वत्र कवि साधक नहीं होता तो भी काव्यरचना कर चलता है। स्पष्ट ही कुमारी अण्डरहिल और हक्सले आदि ने भी इन कवियों की रचनाओं का आधार साधकों के ही चरम सत्य को माना है यद्यपि कविता का सत्य पूर्ण नहीं होता। महादेवी वर्मा ऐसी ही कवयित्री हैं जो बुद्धि की ओर से अनुभूति की ओर चलती हुई अपनी विद्वत्ता का भावरूपता दे देती हैं। कल्पना की मध्यस्थता यहाँ अनिवार्य है। कविता तक ही यह रहस्यवाद सीमित है। कीटस का सौन्दर्य-सत्याभेद ऐसा ही है।

ग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रिचर्ड्स जैसे विचारक रहस्यवाद के शैली रूप में मान्य ठहराते हैं जैसा कि आगे देखेंगे। शुक्ल जी अन्योक्ति-समासोक्ति अलंकारों में विभक्त कर स्पष्ट ही शैली से पृथक नहीं माना है और रिचर्ड्स ने शैली के काव्य में मिस्टिक तत्त्व खोजते हैं जो रूपात्मक है अतः शैलीमात्र है।

४ हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हिन्दी का 'रहस्यवाद' शब्द कई अर्थों के लिए ही पर्याप्त हो पाता है। प्रथम अर्थ के लिए 'रहस्यानुभूति' 'रहस्योपासना' 'रहस्यसाधना' जैसे शब्द रखने चाहिए। श्री जयदेवसिंह जी की अरुचि का कारण यही है कि 'रहस्यवाद' समूचे मिस्टिसिज़्म का अर्थ समाविष्ट नहीं कर पाता। हिन्दी में प्रचलित यह शब्द अब अपने को स्वतन्त्र ही रखते तभी ठीक है। अन्यथा भ्रमों का अन्त न होगा।

---

१ अभिनव भारती—पृ० ३३२

एसी स्थिति म कुछ भ्रात धारणाओ स बच रहना आवश्यक है।

१ एक अतिवाद यह है कि जो महात्मा परमतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं उनकी अभिव्यक्ति सीधे अनुभूति स आती है उसमे कल्पना भावना और बुद्धि का योग नही होता। यह धारणा अनुभूति पर बल देकर सच्ची रहस्यानुभूति का समथन म सहायक है पर अतिरञ्जना स दूषित भी है। कोई भी अभिव्यक्ति परावाणी स सीधे नही आ जाती। उसे बीच की सीढ़ियाँ पार करनी ही होती हैं। सना बना द्वारा समथान म बुद्धि का बहुत बडा योग है। जिन्होने साक्षात्कार नही किया है व बुद्धि स ही समझते हैं अतएव यह अलकारिक शैली अपनाइ जाती है।

२ दूसरा घातक अतिवाद यह भी है कि आधुनिक कविता का रहस्यवाद शुद्ध रहस्यानुभूति की धारा म आता है। उसे उपनिषद क तत्त्वज्ञान के साथ एक ही शृङ्खला म गिन लेना सवथा भ्रामक है। ऐसी दशा म कबीर दादू आदि साधको की वाणी और महादेवी आदि की रचनाओ का एक ही वग म गिन लेना सवथा विचित्र रहा है। साधनात्मक और भावात्मक दो रूपो म विभक्त कर आचाय शुक्ल न ठीक ही किया है परन्तु उनका बल भावात्मक पर विशेष है क्योकि शैली सौन्दय क रूप म ही व रहस्यवाद की प्रतिष्ठा करना चाहत है।

३ एक भ्रान्ति उक्त दोनो अतिवादो की मध्यस्थता करत समय यह हो सकती है कि जब भक्त की वाणी भी कल्पना सापेक्ष है तो साधारण रहस्य कवि स साधक कवि म अन्तर ही क्या रहा ? जिस प्रकार अवतारवाद क अनुसार साधारण प्राणी के अधीन जन्म मरण लेता है पर ईश्वर स्वेच्छा स माया को परिच्छद बनाकर आ जाता है उसी प्रकार महात्मा कवि कल्पना को स्वच्छा स अपनाता है पर कवि मात्र कल्पना के सिवा अनुभूति का अन्य आधार ही नही पा सकता और पामर जन मात्र बना रह जाता है।

४ एतिहासिक अध्ययन करत समय उपनिषदो की धारा म आधुनिक काव्य प्रवृत्तियो का गिन लेना तो ठीक है पर कवि क स्वरूप को जाने बिना सामयिक रग बदलिना है परख बिना और जीव जगत सम्बन्धी दशन भद पर दृष्टिपात किये बिना सबको समान रूप स रहस्यवादी कहना भ्रान्ति है।

५ सीमा सौन्दय का ही विस्तार देकर असीम मान लेना एक बात है और सीमा सौन्दय म असीम सौन्दय ही का साक्षात करना दूसरी बात।

प्रथम प्रकार की धारणा आँसू म प्रसाद की है, अत वह रहस्य काव्य नहीं है परन्तु दूसरी धारणा जायसी की है, अत पद्मावत रहस्य काव्य है। हम अपन चरम को महत्त्व दकर असीम अनुभव करें तो रहस्य-साधना न होगी पर मूर्ति म परम तत्व की उपासना रहस्य-साधना रही है क्योंकि उसम असीम का साक्षात मान्य रहा है। इस अन्तर क मिट जान पर मूर्ति-पूजा न्यय है और चरम के प्रति आसक्ति उपयोगी परन्तु यह उपयोगितावाद रहस्यवाद से दूर ही है।

६ काव्य म रहस्यवाद का काव्य शास्त्रीय सीमाओं म न देख कर पूणत दर्शन की परिधि मे खोजना असगत है पर दार्शनिक आधार की अस्वीकृति व्यामोह है। इन दोनों से हमारी रक्षा होना चाहिए।

७ कुमारी अण्डरहिल का Surrendered himself और इससे का 'Perfectly selfless' जो अथ दते हैं आत्मापण अथवा अह के विलय' का वही अथ भारतीय चिन्ताधारा म मान्य नहीं हो सकता क्योंकि Self का वहाँ (lower self) अथ है जो सकुचित 'स्व' ता कहा जा सकता है पर उक्त भारतीय दशन क ज्ञान अनदित रूप म आकर अध्ययन परम्परा को दूषित करत हैं। खेद है, पश्चिम के विचारकों का अनुवाद मात्र हमारा समीक्षक दता है।

८ साधारण कवियों की रहस्य मूलक भावानुभूति रागजनित होती है अत उसे सवथा शान्त रस क उपयुक्त तत्त्व शान्त नहीं मान सकते। जब रहस्यवादी सब काव्यों म हम वसा खोजने लगत हैं तो भ्रान्ति ही हाथ लगती है।

रहस्यवाद परम्परागत काव्य धारा का नया नाम

यदि ध्वनि सिद्धान्त और रस सिद्धान्त की दृष्टि स काव्य शास्त्रीय समीक्षा की जाय तो इस रहस्यवादी काव्य धारा के बीज ऋग्वेद से अब तक क काव्यों म बिखरे मिल जायेंगे। शान्तरस का नाम स्थायी भाव तत्त्व ज्ञान मात्र है जो रागमयी आसक्तियों क काव्यगत भावों का आधार होकर भी उनसे भिन्न है और रहस्यवादी काव्य अपन भाव पक्ष में इससे महत्त्वपूर्ण व्याख्या नहीं पा सकता।

शान्तरस की कविता स्फुट रूप म ही उपलब्ध होती रही है, अत भक्तिकाल के सन्तो और सूफियों के साहित्य की एक लम्बी धारा देखकर सामान्य काव्य से उसे पृथक देखा जाने को हुआ तो अंग्रजी के मिस्टिसिज्म मे सहायता दी और 'रहस्यवाद' का नाम दे दिया। जब हिन्दी के आधुनिक काल के आरम्भ म भारतीय शास्त्र-चिन्ता का अभाव ही गौरव का कारण माना गया था तब इससे अच्छा समाधान भी सुलभ न था। आज इस शब्द को इसलिए भी मान्य ठहराया है कि शब्द प्रचलित हो गया है इसलिए भी कि शान्तरस एक धारा तथा प्रवत्ति का बोधक नही है और इसलिए भी कि अन्य साहित्य की एक धारा का समग्र भाव से अध्ययन एक शीर्षक के अन्तर्गत सुगम कर लिया गया है। फिर प्रवृत्तिमात्र म शान्त रस नही है अत रहस्यवाद का क्षेत्र व्यापक भी हो गया है—शैली भी उसी म समाविष्ट है।

सूफियों के प्रेम तत्व को रागात्मक मानकर भी शान्तरस के नाम स उसे पृथक नही कर सकते। वह राग शम का अंगभूत है जसा कि देख चुक हैं कि अभिनव गुप्तपाद के अनुसार शान्त के प्रति अन्य रसो को सन्चारी कर लिया जाता है। सूफियों का साध्य जो हकीकत की दशा है वह अभिनव के तत्वज्ञान' अथवा आज के अति प्रचलित (किन्तु पुरातन) सत्योपलब्धि का ही पर्याय है। प्रम अथवा इश्क की चरम परिणति वसाल की अवस्था है जो शमदशा अथवा विश्रान्ति अथवा शान्त दशा स पृथक नही है। अत रागतत्व को किसी प्रकार लौकिक मान कर सूफी प्रम की और तत्सम्बन्धी रहस्यवाद की व्याख्या सभव नही।

आज तक के जीवन विकास क साथ जो विविध दर्शनो तथा जीवन दर्शनो की प्रतिष्ठा हुई उनके द्वारा प्रतिपादित अधिष्ठान तत्व एक होत हुए विविध रूपो म आया है यही भारतीय विशेषता रही है। इस एक पर बहु-रूप अधिष्ठान तत्व को आलम्बन बनाकर रचे हुए साहित्य का अध्ययन 'रहस्यवाद शीर्षक के अन्तर्गत इस पुस्तक का उद्देश्य है।



२

रहस्य का दार्शनिक पक्ष

सब कहते हैं 'खोलो-खोलो
छवि देखूँगा जीवन धन की,
आवरण स्वयं बनते जाते
हैं भीड़ लग रही दर्शन की। —प्रसाद[1]

अध्यात्मविद्या और रहस्य

जीवन और जगत् का अधिष्ठान मूल तत्त्व रहस्य है—निगूढ़ है वह ऐसा सत्य है जो निरपन है पर उसका मुख हिरण्मय पात्र से ढका है जिसे 'अपावृत' किए बिना सत्यकाम मनीषी का दर्शन नहीं हो सकते।[2] जगत की चकाचौंध उसे छिपाये रहती है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाशपुञ्ज ही हम देख पाते हैं, उस प्रकाश का स्रोत स्वतः सूर्य क्या कैसा होगा, हमसे अज्ञात रह जाता है उसी प्रकार जगत भी अपने कारणभूत सत्य को अपने में अन्तर्हित किये रहता है फलतः दृष्टि उस कारण तत्त्व पर पहुँचती ही नहीं और जितना जगत से परे परमतत्त्व है उसे जगत की मिट्टी में पला जीव उसी मिट्टी की आँखों से कैसे देख सकता है। उसकी सभी कुलाचें ब्रह्माण्डों की परिधि में हैं, जिसके रोम राम में कोटि कोटि ब्रह्माण्ड राजते हैं उसे वह नहीं जान पाता।

---

१ कामायनी—कामसर्ग।

२ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यकामाय दृष्टये॥

गुलाब के फूल का सौंदर्य वास और आकार वैभव हमें अपनी ओर खींचकर इतना विभोर कर लेता है कि उसी में निहित उसके रहस्य भूत कारण मृत्तिका को हम नहीं पहचान पाते। एक छोटे से बीज में पिप्पलवृक्ष की समस्त महत्ता और उसी से बढ़ने वाली तरुसंतति निहित है यह भी हमें सामान्यतः ज्ञान नहीं हो पाता। तब फिर परमकारण तत्त्व को—उस महासागर को—जिसकी तरंगों के कणमात्र हम हैं कैसे समझ पायेंगे जब तक कार्यशृङ्खला का निषेध करते करते उस मूलकारण तक न जा पहुंचे जिसके आगे राह नहीं।

यही 'नेति' की प्रक्रिया है। जब तक यह न कहें कि शुक्ल नील पीत कुछ नहीं है, केवल सूर्य किरणों का विशेष योग मात्र है तब तक कार्यभूत रंगों की चकाचौंध ही हाथ लगेगी वास्तविक तथ्य ओझल रहेगा। अध्यात्मविद्या की 'नेति नेति' ऐसी ही प्रणाली है। कार्य की सत्ता का निषेध करते करते जब मूल कारणभूत सत्य की सत्ता पर पहुंच जाते हैं तब निषेध की आवश्यकता नहीं रहती। उस दशा में भाषा अपना रूप बदल देती है और निषेधमूलक विधि द्वारा उस तत्त्व की प्रतीति कराती है— न वहां सूर्य चमकता है न चांद तारे बिजलियां नहीं चमकतीं आग कहां उसी चमकते हुए के पीछे सब चमकते हैं उसी की कान्ति से यह सब कुछ विशेष कान्तिशील है।[1] कार्यों का निषेध द्वारा और कारणसत्ता का विधि द्वारा प्रतिपादन अध्यात्म वाक्यों की विशेषता है। विधि निषेध (Positive negative) के विरोधों में बंधी वाणी का उद्गम अध्यात्मविद्या ही रही है— वह कम्पनधर्मा है, वह कम्पनधर्मा नहीं वह दूर है वह समीप है।[2] 'अणु से अणुतर, महत् से महत्तर'[3] उसी सत्ता को सत्यरूप में प्रतिष्ठा का आस्थानिष्ठ युग ही हमारा सत्ययुग रहा है। गोस्वामी तुलसीदास ठीक इसी औपनिषद तत्त्व के रूप में सौन्दर्य सत्ता का अङ्कन करते हैं—

'सुन्दरता कहुं सुन्दर करई। छवि गृह दीप सिखा जनु बरई॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥

---

१ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

२ तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तद्वन्तिके॥

३ अणोरणीयान् महतो महीयान्॥

यही अध्यात्मविद्या या तत्त्व ज्ञान 'उपनिषद्' का प्रतिपाद्य है। उपनिषद् वास्तव अध्यात्मविद्या के ग्रन्थ हैं। 'सद्' धातु का अर्थ गति तथा अवसादन (दूरीकरण) है 'उप' और 'नि' उपसर्ग हैं। इस प्रकार तत्त्वज्ञान के लिए 'उपनिषद्' अर्थ कई प्रकार से किया जाता है।

१ भगवान शङ्कराचार्य के अनुसार— श्रद्धाभक्तिपूर्वक जो आत्मसात करके इस ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं उनके गर्भ जन्म-जरा रोग आदि अनर्थ पुंज का विनाश करती है अथवा परब्रह्म को प्राप्त कराती है अविद्या आदि संसार-कारण को अत्यन्त अवसादन करती है विनष्ट करती है। इसलिए उपनिषद् है क्योंकि उप+नि पूर्वक सद् धातु का ऐसा ही अर्थ स्मृतिकारों को मान्य है।[1] (उप=समीपगमन, नि+नितान्त या निश्चय, सद=प्राप्ति तथा अवसादन—षद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु।)[2]

२ यह उपनिषद् इसलिए है कि उस आत्मतत्त्व के समीप पहुंचा कर, जो द्वैतशून्य अद्वय ब्रह्म है, द्वैतजन्य अविद्या का नाश करती है।[3]

३ 'अथवा इसलिए उपनिषद् है कि अनर्थमूल अविद्या का नाश करती है तथा प्रत्यगात्मा के रूप में सर्वत्र अनुस्यूत उस परमतत्त्व के पास पहुंचाती है जो सभी भेदों-विरोधों-द्वन्द्वों से परे है।[4]

४ विद्या इसलिए उपनिषद् है क्योंकि यह मूलोच्छेदकारी ज्ञान से समस्त जागतिक प्रवृत्तियों के कारणों का नाश करती है।[5]

---

१ य इमां ब्रह्मविद्याम् उपयन्ति आत्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसरः सन्त तथा गर्भ-जन्म जरा रोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयति, अविद्यादि-संसार कारणं चात्यन्तम् अवसादयति विनाशयति इत्युपनिषद्-उपनि पूर्वस्य सदः एवमर्थस्मरणात्॥ —आप्टेकृत शब्दकोष में उद्धृत॥

२ पाणिनिधातुपाठ।

३ उपनीय इमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः।
निहन्त्यविद्यां तज्जां च तस्मादुपनिषद् भवेत्॥—उक्त शब्दकोष में उद्धरण

४ निहत्यानर्थमूलं स्वविद्यां प्रत्यक्तया परम्।
नयत्यपास्त-सम्भेदम् अतो वोपनिषद् भवेत्॥—वही

५ प्रवृत्तिहेतून् निःशेषान् तन्मूलोच्छेदकत्वतः।
यतोऽवसादयेद् विद्या तस्मादुपनिषद् भवेत्॥—वही

यही ब्रह्मविद्या, अध्यात्मविद्या तत्त्वज्ञान अथवा उपनिषद आगे चल कर 'रहस्य' कहलाया। गीता म उत्तम रहस्य कहकर उसी का उपदेश हुआ है[1] और ब्रह्मसूत्र इसी का प्रतिपादन करते हैं।

रहस्य और दर्शन

'दर्शन शब्द तत्त्वज्ञान जडचेतनविवेक प्रकृति-पुरुष विवेक अथवा साक्षात्कार' का ही अर्थ देता है। शङ्कराचार्य द्रष्टामात्र को आत्मतत्त्व और दृश्यमात्र को अनात्मतत्त्व मानते हुए[2] दृश्य के निषेध द्वारा नेति द्वारा—द्रष्टा का समर्थन की व्यवस्था दी है। न्यायशास्त्र म सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान स निःश्रेयस के पाने का कथन है[3]। साङ्ख्यशास्त्र पुरुष को द्रष्टा मानता है।[4] और प्रकृति दृश्य होती है जो देखी जाने पर पुन दर्शन नही देती[5] अत यही विवेक ख्याति दर्शन है।[6] सभी प्रकार मे योग साक्षात्कार पर बल देते हैं। प्रक्रिया म ही अंतर है 'समाधि साक्षात्कार दशा का ही नाम है। बौद्धधर्म मे विज्ञान ही निरपेक्ष पदार्थ है जो धारा प्रवाह रूप म जगत जीव जीवन आदि रूपों म बदलता रहता है। अत विज्ञान के शुद्ध रूप म ज्ञानावस्था म—रहना ही निर्वाण होगा जो आंतरिक दर्शन स अभिन्न है। अत दर्शन अध्यात्मविद्या से मूलत अभिन्न है।

हमारा दर्शन फिलासफी के समान ज्ञान का प्रेम मात्र नही है[7] और

---

१ भवतोऽसि मेसखाचेति रहस्य ह्येतदुत्तमम् ॥ —श्रीमद्भगवद्गीता ॥

२ दृश्य सर्वमनात्मेव दृगेवात्मा विवेकिन ।—आत्मानात्मविवेक

३ न्यायसूत्र १ १ १ ॥

४ तस्माच्च विपर्यासात सिद्ध साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्य माध्यस्थ्य द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ —साङ्ख्यकारिका १९

५ प्रकृते सुकुमारतरो न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ वही ६१ ॥

६ प्रकृति पश्यति पुरुष प्रेक्षकवदवस्थित स्वस्थ ॥
दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या । वही ६५–६६ ॥

7 Gr philosophia lit love of wisdom from philos love and sophia-wisdom —Annandale Dictionary

न ही 'मेटाफिजिक्स' के समान 'प्रकृति से परे पदार्थों का विज्ञान' मात्र है[1] प्रत्युत अन्त साक्षात्कार है सर्वांगपूर्ण प्रत्यय है। इतना होते हुए भी शुद्ध अध्यात्मविद्या से दर्शन म व्यावहारिक अन्तर है—

१ उपनिषदो म तत्वज्ञान प्रमुख है जब कि दर्शनो मे तत्सम्बन्धी पद्धति एव विवेचना प्रधान है।

२ बौद्धिक विवेचना क कारण पारिभाषिक शब्दावली म बाधकर पुरस्थापन की चेष्टा दर्शन म की जाती है जबकि उपनिषद परमतत्व के साक्षात्कार का अनुभूति प्रधान निरूपण करते हैं।

३ बुद्धिभेद से निरूपण का भेद दर्शना की विशेषता है जब कि उपनिषद म अनुभूति की भूमि का अन्तर भले ही विवेचित हो पर स्थूल तर्क के आधार पर निरूपण नही है प्रत्युत तर्क का निषध है।[2]

४ वस्तुस्थित यह ह कि उपनिषत्-प्रतिपाद्य तत्व को ही विविध दर्शना न विविध रूपो म देखा और दिखाया ह अत उपनिषद आधार हैं।

५ उपनिषदो म अनुभूति प्रधान ह जब कि दर्शना के पदार्थ विभाग आदि बुद्धिप्रधान व्यवहार ले बठ हैं और आज क वैज्ञानिक युग म तो दर्शना की तार्किकता ही हाथ लगी रह गई ह।

६ उपनिषदो का काव्य-पक्ष आज भी अव्याहत ह पर दर्शनो का आज विचार-गत महत्व ही शष रह गया ह।

इन अन्तरा से स्पष्ट ह कि रहस्य प्रतिपादन दर्शना द्वारा बौद्धिक धरातल पर किया जान लगा जो वस्तुत अभिव्यक्ति क लिए आवश्यक भी हो गया था। जिन भावात्मक शब्दो या चित्रमयी भाषा म उपनिषदा की रचना हुई है उसकी पारिभाषिक व्याख्या दर्शना द्वारा ही सम्भव हो सकी है, क्योकि दर्शनो की भाषा चित्रात्मक (Pictorial) न होकर बौद्धिक (intellectual) होती है जो सब बद्ध बनाई जा सकती है। दर्शनो का प्रसार प्रचार सत्ययुग की वस्तु नही जब साक्षात्कृत सत्य किसी भी शब्द—प्राण, आत्मा, आनन्द ब्रह्म

---

1 Gr meta—after and phisica phisics from phisis nature or Science of natural bodies —Annaudale dictionary

२ नया तर्केण मतिरापनेया।

द्वारा अनुभूति गम्य कर लिया जाता था। दर्शन तो धर्म अर्थ कामरूप त्रेता के युग की वस्तु हैं जब उक्त त्रेता में व्यग्रमानवता को परम पुरुषार्थ का मार्ग बताना आवश्यक हो गया होगा। द्वापर अथवा सन्देह के युग में जब अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रतिपादन का बीड़ा भी दर्शनों ने उठाया।[1] इन्हीं सब कारणों से दर्शन का 'दृष्टि विशेष' 'दृष्टिकोण विशेष' सिद्धान्त विशेष यहाँ तक कि विचार विशेष तक अर्थ हो चला है।

साक्षात्कृत रहस्य सत्ता को बुद्धिगम्य बनाने में आज दर्शनों का विशेष हाथ है अतएव अध्यात्मविद्या यदि साधना है तो दर्शन आज कोरे अध्ययन बनकर रह गये हैं।

दर्शन भेद से रहस्य के व्याख्या भेद

एक सत को विप्र विविध प्रकार से कहते हैं[2] यह उक्ति दर्शनों की व्याख्या पर विशेष लागू है। जिस प्रकार अखिल जगत्—चाहे उसे जड़ या चेतन[3]—अपने विश्वरूप में एक होकर भी विशिष्ट दृष्टि से विविधता लेता है उसी प्रकार एक ही रहस्य सत्ता अनेक बुद्धि भेदों की व्याख्या पाकर अनेकत्व ले बैठता है। ऐसी स्थिति में यह नहीं कह सकते कि सभी दर्शनों की दौड़ तथा वाचिक उपलब्धि एक ही है। इस अनेकता का कारण उपलब्धियों का मौलिक अन्तर भी है। हम दर्शनों को भारतीय सदर्भ में देखें तो दो स्थूल वर्ग हो जायेंगे —

१ प्रत्यक्ष रहस्य-दर्शन और
२ परोक्ष रहस्य-दर्शन।

द्वितीय वर्ग में वे दर्शन आते हैं जो पदार्थ विभाग तो अपने ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं परन्तु दिव्य अनुभूति का दायित्व अन्य दर्शनों में आधान ही मानते हैं—ऐसे दर्शनों में न्याय-वैशेषिक मुख्य है। मीमांसा और सांख्य भी क्रमशः कर्मकाण्ड और विवेक द्वारा वेदान्त और योग के साधक हैं अतः परोक्ष वर्ग में ही आते हैं। यहाँ यह हो सकता है कि 'परोक्ष रहस्य-दर्शन' वर्ग में लाये हुए दर्शन भी अपनी साधना प्रणाली द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन का काम

---

१ यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्म
२ एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ॥
३ कामायनी—चिन्तासर्ग ॥

करते हो परन्तु सामान्य जन में ये दर्शन आज बुद्धिवाद की सीमा में ही आते हैं—जहाँ तक उपलब्धि का प्रश्न है परन्तु योग और वेदान्त केवल बौद्धिक व्यायाममात्र नहीं है क्योंकि उनमें वर्णित समाधि मुक्ति आदि कोरी बुद्धि विजृम्भणा नहीं हैं क्योंकि हैं—प्रत्यक्ष दर्शन की वस्तु हैं। प्रत्यक्ष रहस्य-दर्शन बहुत हैं, जिनमें से कुछ का विवरण संक्षेप में दिया जाता है —

१ वेदान्त—वेदान्त दर्शन का योग्य अर्थ 'उपनिषद ग्रन्थ' अथवा उपनिषदों का प्रतिपाद्य है वेद के अंतिम अंश का नाम वेदान्त है परन्तु आज इसका अर्थ शाङ्कर अद्वैतवाद लिया जाता है। अद्वैत नाम द्वैत के विरोध पर रक्खा गया है। प्रायः सभी दर्शनों में आत्मतत्त्व का एकत्व अमान्य है अतः यह द्वैत बहुत्व का अर्थ भी देता है जिसे वर्जित कर एक ही चेतना की स्थापना वेदान्त का प्रतिपाद्य रहा है। चेतना विज्ञानरूप, सत्यरूप और आनन्द रूप है[1], वही ब्रह्म है जो जगत्कारण है।

वेदान्त के 'विशिष्ट एकेश्वरवाद' को ऐतिहासिक रूप में समझने के लिए बौद्धदर्शन के विज्ञानगत बहुत्ववाद का ज्ञान लेना आवश्यक है। बौद्धदर्शन में विज्ञान ही परम तत्त्व है, जिसकी संख्या अनन्त है। यह संसार निरन्तर सन्तान या प्रतीति धारा का खेल है। जिस प्रकार जल बिन्दु अनन्त हैं जो पृथक् रहते हुए भी प्रवाह रूप एक धारा मान लिए जाते हैं उसी प्रकार प्रतीतियों की अनन्त धारा एक जान पड़ती और पदार्थ अखण्ड रूप में भासित होते हैं। यह ऐसा दर्शन है जो क्षणिकता अभावमयता पर बल देकर चलता है। इसके विपरीत वेदान्त विज्ञान को अखण्ड अपरिच्छिन्न, अद्वय मानकर जगत को उसी का विवर्त—अतात्त्विक अन्यथाभाव[2]—मानता है।

खण्डश विच्छिन्न प्रत्यय का कारण अज्ञान या माया है जो भाव रूप (Positive) अनिर्वचनीय तत्त्व है। इस माया को सत् नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म के रहते उसकी प्रतीति होती है अपने आप में वह प्रतीतिगत हो ही नहीं सकता। इसे असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतीति तो होती ही है अतः अनिर्वचनीय है। ब्रह्म की सत्ता में भासित होने वाली छाया के समान ही माया की सत्ता है भी नहीं भी है। चैतन्य तत्त्व असीम तथा एक होकर भी सीमित तथा अनेक रूप लेता है यही माया का कार्य है, परन्तु माया

---

१ सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म।

२ अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः।

को सूक्ष्म वृत्ति तक के हटा देने पर मुक्त दशा प्राप्त हो जाती है तब जीव ब्रह्म का अन्तर मिट जाता है। जैसा कि कहा है—

जल म कुभ कभ मे जल है भीतर बाहेर पानी
फूट कभ, जल जलहि समाना, यह तत कयहु गियानी।

२ शैव दर्शन—यह दर्शन वेदान्त के मायावाद को तथा जगत के स्वप्नवत होने को नही मानता। इसम जगत और जीवन को शाश्वत माना गया है क्योकि वे चिति के ही स्वरूप हैं—भले ही सकुचित रूप हैं। परम शिव ही शिव और शक्ति दो म बट जाता है। शक्ति के ज्ञान इच्छा और क्रिया ये तीन रूप होते हैं, जो शिवतत्त्व के सम्पर्क स तीन रूप लेते हैं—सदाशिव ईश्वर और शुद्धविद्या। परमशिव ही महाचिति है जो अपने ही आनन्द स्वरूप स उच्छलित शक्ति[1] द्वारा अपने आप ही विश्व का उन्मीलन करती है।[2] इसके अनन्तर शक्ति का और सकोच होता है जो माया कहा जाता है माया का काय अभेद म भेद बुद्धि उत्पन्न करना है जिसस महाचिति अणुचिति म बटी सी भासित होती है। इस प्रकार माया और अणु या जीव की रचना हो जाती है। यह अणु चिति क असीम रूप स अपने को पृथक करता है। क्योकि परमशिव की पाँच शक्तियाँ—सवकत त्व सवज्ञत्व पूणत्व नित्यत्व और व्यापकत्व—सकुचित होकर अणु को आवत कर लेती हैं। य सकुचित शक्तियाँ क्रमश कला विद्या (अविद्या) राग काल और नियति कहलाती हैं।[3] य ही पाँच जीव क कञ्चुक हैं जिन्ह लपेटे रहन स वह नि । साम परमानन्द स्वरूप को भूला रहता है—

सकुचित असीम अमोघ शक्ति
जीवन को बाधामय पथ पर ले चल भेद स भरी भक्ति
या कभी अपूण अहता म हो रागमयी सी महासक्ति

---

१ आनन्दोच्छलिता शक्ति सृजत्यात्मात्मना।

२ चिति स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहतु —स्वच्छया स्वभित्तौ विश्व-मुन्मीलयति—प्रत्यभिज्ञा-हृदयम।

सवकत्व-सवज्ञत्व-पूणत्व-नित्यत्व-व्यापकत्व-शक्तय सकोच गृह्णाना यथाक्रम कला विद्या राग काल नियतिरूपतया भान्ति।—वही ९

व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी माया में रहे बन्द
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बनकर कुछ रचे छन्द
कर्तृत्व सफल बनकर आवे नश्वर छाया-सी ललित कला
नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरन्तर चल ढला। [1]

इसके अनन्तर और भी संकोच चलता है तो सांख्य के २४ तत्व बनते हैं। तीनों शक्तियों का सत्त्वादिसाम्य-दशा का संकोच प्रकृति या चित्त रजोगुणी इच्छा का संकोच अहंकार सत्त्वगुणी ज्ञान का संकोच बुद्धि और तमोगुणी क्रिया का संकोच मन इन अन्तःकरणों की रचना होता है। फिर संकोच होते होते पाँच पाँच ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय, विषय (सूक्ष्मभूत और महाभूत) बनते हैं। इस उत्तरोत्तर संकोच द्वारा सृष्टि होती है[2] अतः परमशिव रूप लाभ करने के लिए जीव का विकास के लिए यत्नशील होना पड़ता है।[3] यत्न रहित यथा संकोच स्वभाव वाले जीव की स्थिति ऐसी है—

कहा मनु ने—नभ धरणी बीच बना जीवन रहस्य निरुपाय
एक उल्का-सा जलता भ्रान्त शून्य में फिरता हूँ असहाय।
शैल निर्झर न बना हतभाग्य, गल नहीं सका जो कि हिम खण्ड
दौड़कर मिला न जल निधि अङ्क आह वैसा ही हूँ पाखण्ड।
पहेली सा जीवन है व्यस्त उसे सुलझाने का अभिमान,
बताता है विस्मृति का मार्ग चल रहा हूँ बनकर अनजान।
भूलता ही जाता दिनरात सजल अभिलाषा कलित अतीत,
बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य दीन जीवन का यह संगीत।
क्या कहूँ क्या हूँ मैं उद्‍भ्रान्त ? विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग शून्यता का उजड़ा-सा राज।
एक विस्मृति का स्तूप अचेत, ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब
और जड़ता की जीवन-राशि सफलता का संकलित विलम्ब।[4]

---

१ कामायनी—रहस्य सर्ग ॥

२ छत्तीसों तत्त्वों के लिए 'षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह' देखिए।

३ मध्य विकासात् चिदानन्दलाभः। मध्यभूता संविद् भगवती।
—प्रत्यभिज्ञा हृदयम्—१७ ॥

४ कामायनी—श्रद्धा सर्ग ॥

३ भक्ति-दर्शन—विशिष्टाद्वैतवाद शुद्धाद्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद, ▮तवाद आदि विविध भक्तिदर्शन कुछ बातों में समान हैं अतएव एक वर्ग में रख लिये गये हैं।(१) जीव और जगत को सभी नित्य मानते हैं।(२)सभी की धारणा है कि जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वज्ञ। (३) माया जो ब्रह्म की सहचरी है, जीव को पृथक रखती है (४) ईश्वर सर्वशक्तिमान है अनुग्रह शील है फिर भी, जीव जब तक उस ओर उन्मुख नहीं होता तब तक वह भी उदासीन रहता है। (५) परन्तु शरणागत जीव को भगवान का अनुग्रह तुरन्त सुलभ होता है जिससे माया ग्रसित जीव निस्तार या मोह पा जाता है। इन सभी प्रवृत्तियों का निदर्शन कराते हुए गोस्वामी जी ने हनुमान् और राम के सम्बन्ध की प्रतिष्ठा की है—

मोर न्याउ मैं पूछा साई। तुम्ह कस पूछहु नर की नाई॥
तव माया बस फिरौं भुलाना। ताते मैं प्रभु नहिं पहिचाना॥
एकु मैं मंद मोह बस कुटिल हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरे॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा॥

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध निर्धारित करके ही भक्तिभाव संभव है। दास्य सेवकभाव पति पत्नीभाव पिता पुत्रभाव सख्य अति प्रचलित हैं परन्तु यथारुचि अन्य सम्बन्ध भी बन सकते हैं। अद्वैतवाद भी भक्ति के क्षेत्र में आकर सम्बन्ध को मान्यता देता है। कम-से-कम अंशांशिभाव तो रहता ही है जब शंकर कहते हैं —

'भेद हट जाने पर भी हे नाथ! मैं तेरा हूँ ▮ मेरा नहीं क्योंकि समुद्र का तरंग होता है कहीं तरंग का समुद्र नहीं।'[१]

यही प्रवृत्ति श्रीमती महादेवी वर्मा में देखी जा सकती है —

नहीं अब गाया जाता देव! थकी उँगली है ढीले तार।
विश्व-वीणा में अपनी आज मिलालो वह अस्फुट झंकार॥'

१ सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंग क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

ख्वाजा खुसरो ने पूर्ण अभेद प्राप्त करके भी जीव को 'तन' और ब्रह्म को 'जान' का रूप दिया है।[१]

श्री मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक काल में भक्ति काव्य का प्रतिनिधित्व करने वाले खड़ी बोली हिंदी के कवि हैं उन्होंने जीव का संसार रूपी महासागर की भटकी तरंग के रूपक में चित्रित किया है—

'उठ अपार में पार आकर जो गई
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई।
अटक जीवन के विषम विचार में
भटकती फिरती स्वयं मझधार में
सहज कंपन कल कुञ्ज कछार में
विषमता है किन्तु वायु विकार में
और धारा और हूँ चलकर कई
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई।
पर विलीन नहीं रहूँ गति-हीन मैं
दृश्य से न दबूँ कभी, वह दीन मैं
अति अपार हूँ किन्तु आत्म-अधीन मैं
सखि मिलन के पूर्व ही प्रिय लीन मैं
कर सका सा कर चुका अपना दई
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई।[२]

४ बौद्ध-दर्शन—बौद्ध-दर्शन साधना के क्षेत्र में परमात्मा जैसी किसी सत्ता को मान्य नहीं ठहराता और बौद्धिक अतिचार की प्रतिक्रिया में उसने प्रसार पाया अतएव नास्तिक दर्शन कहा जाता है। नित्य आत्मसत्ता भी—प्रतीति धारा से पृथक—उसे अपेक्षित नहीं। प्रत्यय या विज्ञान को ही सर्वस्व मानने के कारण उसकी साधना-पद्धति पूर्णतया मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक है। यही कारण है कि वहाँ मन की निर्मलता पर बड़ा बल दिया गया है और बालक के समान उसे सहज एवं समरस बना रखने को

---

१ मन तू शुदम तू मन शुदी मन तन शुदम तू जाँ शुदी।
ता कस न गोयद बाद अज़ीं मन दीगरम तू दीगरी॥

२ साकेत नवमसर्ग॥

महत्व दिया गया है।[1] सहज उल्लास या उल्लाल के लिए सरहपाद ने बालवत स्थिति का अनिवार्य बतलाया है और गुरु वचन में दृढ़भक्ति उसकी बात है।[2] संस्कारों का विनाश करके ही सहज दशा पाई जाती है जिसके लिए शास्त्रज्ञान का त्याग ही करना पड़ता है।[3]

५ जैन-दर्शन—बौद्धों से जैनों में एक यह अन्तर स्पष्ट है कि जैन आत्मवादी होते हैं और आत्मा को नित्य मानते हैं। बौद्धों के समान केवल मन को निश्चल करना उनका साध्य नहीं है प्रत्युत आत्मज्ञान का साधन है। मन जब सांसारिक विषयों का त्याग करता है तभी निर्मल होकर आत्मा को जान सकता है[4] और आत्मज्ञान की दशा में अहंतत्त्व और जिनतत्त्व में अद्वैत हो जाता है यही मोक्ष है।[5] इस मोक्ष के लिए लोक द्वारा अर्जित विषय संस्कार वाले गुणों का त्याग अपेक्षित होता है अन्यथा अद्वैतरूप मिलन संभव नहीं।[6]

ऊपर दर्शन भेद से रहस्य के व्याख्याभेद का दिग्दर्शन मात्र हो सका है। दर्शनों की संख्या अनन्त कही जा सकती है क्यों कि वे भी संसार भर

---

१ सहज णिच्चल जेण किअ, समरसे णिअ मण-राअ।
सिद्धो सो पुणु तक्खणे णउ जर-मरण ह भाअ॥
—दोहाकोस—कण्हपा

२ चित्ताचित्त विपरिहरहु तिम अच्छहु जिम बालु।
गुरु-वअण दिढ भत्ति करि होइअइ सहज उल्लासु॥
—दोहाकोस—सरहपा

३ आगम वेअ पुराणहिं पण्डिअ माण वहन्ति।
पिक्क सिरीफले अलिअ जिमि बाहेरीअ भमान्ति॥—दोहाकोस—कण्हपा

४ जेहउ मणु विसयहँ रमइ तिम जइ अप्पु मुणेइ।
जोइउ भणइ—हो जोइयहो लहु णिव्वाणु लहेइ॥
—(जोइन्दु—परमप्पसार)

५ जो जिण सो हउ सो जि हउ एहउ भाउ णिभन्तु।
मोक्खहो कारणि जोइया अण्णु ण तंतु ण मन्त॥—(वही)

६ हउ सगुणी पिउ णिग्गुणउ, णल्लिक्खणु णीसंग।
एक्कहिं अंग वसन्तयहँ मिलिउ ण अंगहिं अंग॥
—रामसिंह—पाहुड दोहा

के दर्शन यहाँ गिनाये जा सकते और यह भी है कि एक ही दर्शन व्यक्ति-व्यक्ति में पृथक बौद्धिक साँचा लेकर पृथक आकार में ढलता है जिससे एक ही रहस्य अनेक रूपों में दार्शनिक अभिव्यक्ति पाता है यहाँ हमें दो अतिवादों से बचना चाहिए —

१ पहला अतिवाद यह होगा कि हम सन्तों पर पड़े हुए विविध प्रभावों को अमान्य ठहराकर सभी को एक ही सीमा में बन्द कर लें और तात्त्विक विश्लेषण में तत्पर हो जाय जो दार्शनिक अध्ययन का विरोधी है।

२ दूसरा अतिवाद तब होगा जब हम मान लेंगे कि विविध दर्शनों में परस्पर कोई साम्य नहीं। परमतत्त्व वस्तुतः एक है जो विविध व्याख्यायें पाता है। अनुभूति और बुद्धि के धरातलों का अन्तर दर्शनभेद कारण है। 'ज्ञान सत्ता का व्यापार है जब ज्ञाता की सत्ता में परिवर्तन घटित होता है तो उसी का सवाङ्गी परिवर्तन ज्ञान के स्वरूप और उसकी मात्रा में आ जाता है।[1] जो हम जानते हैं वह इस पर भी निर्भर करता है कि नैतिक प्राणी होने के नाते हम किस रूप में आत्मनिर्माण करना चाहते हैं।[2] फिर भी वस्तुस्थिति विश्लेषणप्रधान न होकर संश्लेषणमुखी होती है।[3]

जीवन-दर्शन में रहस्यभावना का महत्त्व

धर्म ही जीवन-दर्शन है और जीवन-दर्शन का आधार साक्षात्कृत दर्शन रहस्य होता है। समय-समय पर कोई-न-कोई दर्शन जीवन-दर्शन का आधार बनता है। यह आधार दर्शन के रहस्य पक्ष के अनुभूति पक्ष को गौण करके

---

1 Knowledge is a function of being When there is a change in the being of know there is a correser ponding change in the nature and amount of knowing

—The perennial philospofhy Intro P I

2. What we know depends also on what, as moral beings, we choose to make ourselves

(Ibid P 2)

3 All science is the reduction multipliecity to identities

—(Ibed P 11)

बौद्धिक अथवा विचारपक्ष को महत्व देता है। इसी प्रकार विविध धर्मों की प्रतिष्ठा होती और देश-काल भेद से विविध जीवन रीतियों का प्रचलन होता है। अपने समय में सुकरात ने यूनान को, ईसा ने समस्त योरप को, मुहम्मद ने अरब को मंसूर ने बगदाद को जो धर्म ज्योति दी थी उसका रहस्य उनके प्रतिष्ठित दर्शनों में निहित है। महात्मा गांधी ने 'ईश्वर सत्य है' के स्थान पर 'सत्य ईश्वर है' की जो प्रतिष्ठा की उसी के आधार पर आज की जीवन धारा अपनी गति खोज रही है।

मानव धर्मशास्त्र अद्वैत दर्शन पर प्रतिष्ठित जीवन-दर्शन है। मनु ने अपनी स्मृति के प्रथम अध्याय में दर्शन की प्रतिष्ठा करके[१] धर्म का चातुर्वर्ण्य में विभाजन किया है अतः भेद में भी स्वतः अभेद की प्रतिष्ठा हो गई है। राजपूत राज्यों की छिन्न भिन्न अवस्था में जब वर्ण व्यवस्था का आधार टूट रहा था तब शङ्कराचार्य पुनः अद्वैतवाद का आन्दोलन करके वर्णाश्रम धर्म को चिरन्तन आधार प्रदान किया। भक्तिकाल में भक्ति दर्शनों ने जीवन दर्शन का आधार दिया।

साक्षात्कार दर्शन सिद्धान्त जीवन-दर्शन विविध सामाजिक शास्त्र आचार व्यवहार का विकास इसी परिगणित क्रम से होता है। रहस्य साक्षात्कार की वस्तु रहता है और शेष तर्क बुद्धि का विषय बन रहते हैं। आचार-व्यवहार धीरे धीरे अभ्यास की वस्तु बनकर तर्क का भी सहारा नहीं चाहते और तर्क मूलभूत साक्षात्कृत रहस्य से दूर चल जाते हैं। ऐसी दशा में रूढ़ियों का राज्य हो जाता और समाज में जड़ता व्याप्त हो चलती है। तब पुनः दूसरे दर्शन एवं तदधीन व्यवहार की प्रतिष्ठा होती है। यही क्रम चलता रहता है।

कोई भी जीवन दर्शन तभी तक जीता है जब तक उसके तत्त्व न केवल दार्शनिक रूप में बुद्धिगम्य रहते हैं अपितु रहस्य भावना के रूप में हृदयगम होते भी रहते हैं। समय-समय पर महात्मा सन्त योगी मुनि और कवि जीवन के रहस्य पक्ष का उद्घाटन कर जीवन दर्शन को सजीव बनाते रहते

---

१ ततः स्वयम्भूर्भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः ॥—मनुस्मृति १६ ॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥—वही १७

है। जन-जन में रहस्य भावना भरने का काम जितनी सफलता से कवि करता है उस सरलता और व्यापकता से दूसरा नेता कर पाता। सन्तों और द्रष्टाओं ने इसीलिए काव्य को माध्यम बनाया। यद्यपि वाल्मीकि को राम-चरित की काव्यमयी प्रतिष्ठा करनी पड़ी और अश्वघोष को बौद्ध-दर्शन में काव्यपक्ष की कमी खटकी तो 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' सामने आये। कवि चूँकि भाव-सत्य की प्रतिष्ठा द्वारा चिरन्तन तत्त्व को प्रत्यक्ष कराता है अतः रहस्यसत्ता हृदयपटल पर अंकित हो जाती है जिससे उदात्त एवं व्यापक भावभूमि निर्मित होती है। वह विश्व में भी व्याप्ति चाहता हुआ उस सत्य का सन्देश भरता है जो देश कालातीत है, उसकी कामना है।

> 'चेतना का सुन्दर इतिहास अखिल मानव भावों का सत्य,
> विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य अक्षरों में अंकित हो नित्य।'[1]

ऋग्वेद की ऋषिका आम्भृणी वाक् ने जब कहा कि 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्' तो अपने कवि रूप और वाणी के काव्य रूप के महत्त्व की घोषणा कर दी, काव्य का लोकमंगल इसी में है कि उसके द्वारा चिरन्तन सत्य हृदयंगम होकर लोकचेतना को विस्तार देता रहे। हम जितना ही सौन्दर्य के निःसीम रूप का चित्रण पढ़कर आनन्दलीन होते हैं उतना ही चित्त विस्तार फलित होता है।

साधारण जन ज्ञानी नहीं हो सकते परन्तु योगिगम्य परम-सत्य को बुद्धिगम्य बनाते हुए हृदय में प्रतिष्ठित सभी कर सकते हैं। काव्य का यही उपयोग है। साधारण कवि रसदृष्टि करके भाव विस्तार सा देता है पर चिरन्तन अखण्ड एकत्व की प्रतिष्ठा नहीं कर पाता परन्तु रहस्य कवि रस द्वारा विस्तार देता ही है सौन्दर्य के निःसीम रूप का उद्घाटन करके सत्य को सौन्दर्य में और उन दोनों को शिव में परिणत कर देता है।

रहस्य और जिज्ञासा

जिज्ञासा तत्त्वज्ञान का सर्वस्व है आदि कारण है। प्रेम दर्शन की विरहासक्ति के मूल में जिज्ञासा है जो तड़पन का रूप लेती है। प्रश्न वितर्क चिन्तन मनन आदि अनेक रूप इसी जिज्ञासा के हैं। 'प्रश्न' उसका बोध एवं

---

१ कामायनी—श्रद्धासर्ग।

वाचिक रूप है तो 'वितक भावमय रूप अतएव वितक का सञ्चारीभाव माना गया है। प्रश्न पूवपक्ष है जिसके आधार पर जो सिद्धान्त स्थिर होता है, उसी का उत्तर कहते हैं, क्योंकि वह उत्तरवर्ती है, प्रश्न पूववर्ती। यहो से प्रश्नोतर के युगल की निष्पत्ति है। उत्तर अपने नाम को साथक नही कर सकता यदि उसके पूव म प्रश्न न हो और प्रश्न जिज्ञासा का सक्रिय रूप है जिसके ऊपर समस्त ज्ञान विज्ञान अवलम्बित हैं। ज्ञान उत्तर रूप है पर उसकी पूव स्थिति प्रश्न अथवा जिज्ञासा म है। दाशनिक दृष्टि से देखें तो इच्छा प्रधान ज्ञान शक्ति ही जिज्ञासा है—दो शक्तियों का सगम है और प्रश्न म क्रिया भी जुड जाती है—त्रिवेणी बन जाती है।

ऐतिहासिक दृष्टि स देखा जाय तो ऋग्वेद का क देवता प्रश्नवाचक सवनाम के आधार पर खडा है—प्रश्न रूप है—कस्म देवाय हविषा विधेम। पूरा एक सूक्त इसी देवता की स्तुति म लग गया है। वह प्रजापति रूप है और द्यावापृथिवी का धारण करने वाला है वही हिरण्यगभ है जिसकी उत्पत्ति सब प्रथम हुई थी[1] वह सृष्टि आदि का कारण है। परमशिव का वही प्रथम स्पन्द है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त निणयात्मक उत्तर देने की अपेक्षा रहस्य को जिज्ञासा क अधीन अधिक रखता है—अन्त म वह कह देता है कि इस विश्व का जो धाता है वह भी जानता है या नहो—वदयदि वान वद।

उपनिषदो को लें तो केन उपनिषद प्रश्नवाचक सवनाम को केन्द्र मानकर चलता है और उसका नायक यक्ष तत्त्व जिज्ञासा का विषय बना रहता है। यह तो जिज्ञासा का ही बना सूक्त लेकर रचा हुआ काव्य है। प्रश्न उपनिषद भी उसी अवलम्ब पर खडा है 'कठ म नचिकेता की जिज्ञासा यमलोक की यात्रा का कारण है और उसी की सच्चाई पर उसका नायकत्व अवलम्बित है। तैत्तिरीय म तत्त्व जिज्ञासा ही तत्त्वज्ञान म परिणत हुई दिखाई गई है। ब्रह्मसूत्र जो समस्त उपनिषदो का सवस्व है अथातो ब्रह्मजिज्ञासा स चलता है जिसका अथ हुआ कि समस्त ब्रह्मविद्या ब्रह्म-जिज्ञासा है अन्यथा ज्ञान का रूप ही नहीं खडा होता।

---

१ हिरण्यगभ समवतताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा कस्म देवाय हविषा विधम॥

बुद्ध भगवान शिष्यों के प्रश्नों का ही उत्तर देते थे। सुकरात ने प्रश्नों द्वारा ही अपने सिद्धान्तों का प्रचार करके एथेंस के जन-जन में अध्यात्म और आस्था की धारा प्रज्वलित कर दी थी। बाइबिल में क्राइस्ट प्रश्न करके फिर आगे बढ़ते हैं। कुरान के मूल में सन्देह है। सर्वत्र व्याप्त एक आवरण है जिसे दूर करने की सक्रियता 'जिज्ञासा' के रूप में अवतीर्ण होती है। यही कौतूहल न होता तो ज्ञान विज्ञान का नहीं जगत भी न होता।

व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो ज्ञात तथ्यों का भी जिज्ञासु की जिज्ञासा निवृत्ति के लिए कथन होता है। ज्ञान निष्क्रिय(Static) है जिसका गतिशील जगत संसरणशील संसार और व्यक्तिगत विश्व में यदि महत्व है तो उसके विषय की इच्छा को लेकर, जब वह सक्रिय एवं सचेष्ट रूप (dynamic form) में आता। जिज्ञासा इच्छा को नहीं शिष्य का वस्तु है और यही वाणी मात्र का कारण है।

रहस्य के सन्दर्भ में जिज्ञासा का बहुत बड़ा हाथ है। रहस्य नाम त्याग-परक है जिसमें 'नेति' के निषेध का भाव है। इस निषेध द्वारा सम्यग्ज्ञान विधिरूप तत्त्वज्ञान रहस्यावस्था में जिज्ञास्य रहा करता है। ज्ञातरूप लेकर तो यह रहस्य नहीं रहता है—उपनिषद बन जाता है जिसमें उपलब्धि की प्रमुखता है। 'रहस्य' लक्ष्य तो है पर वह जो मिला नहीं है जिसके लिए यत्न जारी है। मिल जाने पर जिज्ञासा के साथ-साथ मन बुद्धि, वाणी सभी चुप हो बैठते हैं। 'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

अभिव्यक्तिमात्र जिज्ञासापरक है। ज्ञान की अभिव्यक्ति वाचिक नहीं होती प्रत्ययात्मक या अनुभूत्यात्मक होती है। ज्ञान की भाषा मौन है। वैखरी वाणी का समस्त सारस्वत वैभव जिज्ञासा की अभिव्यक्ति है—तन्मूलक है अतः रहस्य की अभिव्यक्ति का यही आधार है।

रहस्य के सिद्ध-साध्य पक्ष

जिज्ञासा की सीमा में 'रहस्य' की साध्य या ज्ञेय दशा है और ज्ञान की भूमि में सिद्ध अवस्था ज्ञात दशा होती है। ये दोनों पक्ष ज्ञाता प्रमाता अथवा द्रष्टा की अपेक्षा में हैं निरपेक्ष रूप में 'रहस्य' वाणी का विषय नहीं।

व्याकरण-दर्शन में सिद्ध रूप को आत्मा, द्रव्य सत्त्व आदि नाम दिये गये हैं और साध्यरूप को क्रिया असत्त्व व्यापार आदि कहा गया है। वस्तुत

सिद्धरूप आगतिक, स्थित या (Static) है और साध्यरूप सगतिक सक्रिय, स्पन्द रूप (dynamic) है।

सिद्ध अथवा ज्ञात रूप ज्ञाता के लिए रहस्य नही रहता उस जिज्ञासु की अपेक्षा म ही रहस्य कहा जाता है और साध्य अथवा ज्ञेय रूप तो जिज्ञासु के लिए है ही।

कुछ शब्द—हरि राम ईश्वर ब्रह्म आदि—सिद्ध दशा के ही बोधक हैं क्योंकि वे निरपेक्ष अर्थ देते हैं हरि अथवा राम की सत्ता किसी की अपेक्षा में नही है। बहुत से शब्द—जैसे प्रजापतिक करुणामय, दीनबन्धु प्रभु प्रिय प्राण सर्वनाम आदि—साध्य दशा के है क्योंकि प्रभु सेवक की प्रिय प्रेमाश्रय की अपेक्षा में होता है, अत ऐसे शब्द सापेक्ष हैं। सर्वनाम की व्याप्ति को लेकर साध्य कहा जाता है। सिद्धशब्द शास्त्रोपयोगी तथा साध्य शब्द काव्योपयोगी होते हैं। साध्य दशा वाले सभी शब्द व्यापार प्रधान होते है। सम्बन्धक व्यापक होते हैं जो सीमा से असीम तक का अर्थ देते हैं।

चित्रकला के उदाहरण स इसे और भी समझा जा सकता है। गीता प्रेस के धार्मिक चित्र सिद्ध रूप हैं जिनके प्रति एक स्थिर भाव सम्बद्ध है और रूढ़ होकर बुद्धि की जड वस्तु रह गया है जिसमें कला नहीं है परन्तु रवि वर्मा के वैसे ही चित्रों में कला है क्योंकि साधारण द्रष्टा क विविध भावों की सष्टि उनके द्वारा होती है यही साध्यता है। कला साध्यता म होती है।

सिनेमा म गाया हुआ गीत एक ही स्थूल वृत्ति को सिद्धरूप म व्यक्त करता है जबकि सगीत की रागमयी स्वरलहरी का कम्पन श्रोता की हृत्तन्त्री के साथ जुडकर जिस आनन्द का सृष्टि देता वह साध्य दशा है।

रहस्य सत्ता का लेकर और देखें तो तत् या चरम तत्त्व की इदं के रूप म परिणति साध्य है जो जगत्प्रसार है—भले ही यह इद तद का का एक चतुर्थांश ही हो, परन्तु निष्क्रिय पडा हुआ तीन चौथाई सिद्ध ही है।[1] साधक इद मे से होकर 'तद्' की ओर गतिशील होता है जिससे गत्यात्मकता

१　पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि—ऋग्वेद—पुरुष सूक्त॥

अथवा साध्यता ही रहस्य का प्रमेय पक्ष ठहरता है सिद्धरूप में वह अप्रमेय है मन-वाणी से परे है।[1]

साध्यपक्ष की काव्योपयोगिता

काव्य कवि-कर्म का नाम है अतः साध्य है। काव्य में वर्ण्य का स्वरूप साध्य ही रहता है। हिमालय की चोटियाँ बहुत ऊँची हैं वह हम छोटों पा ?? है पर इसमें हिमालय का सिद्धरूप ही हाथ लगता है परन्तु महाकवि कालिदास कहते हैं 'मेखला पर्यन्त ही विचरण करते हुए मेघों की निचली चोटियों पर की छाया का सेवन करके, वृष्टि से उद्विग्न होकर सिद्ध लोग धाम वाली चोटियों पर चले जाते हैं।'[2] यहाँ साध्य रूपता लाने के लिए वेद को सहस्रशीर्षा पुरुष कहना पड़ता है और उपनिषदों को बिना परों के चलने वाला कहना पड़ता है। गोस्वामी जी उसे इस प्रकार कहते हैं।

पग बिनु चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना।।
आनन रहित सकल-रस-भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।

गीता में कहा गया है —

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोक्षि-शिरो-मुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।

यही निर्गुण की सगुणरूपता है जो एक लकड़ी के नाना आकार की अग्नियों के समान एक होते हुए भी उपाधिकृत अन्तर रखते हैं —

एक-दारु गत देखिय एकू।
पावक-सम जुग ब्रह्म विवेकू।।"

रहस्यतत्त्व की सिद्धावस्थरूपता काव्य का विषय नहीं बन पाती क्योंकि सहृदय को उस अनुभूति में काव्य द्वारा नहीं पहुँचाया जा सकता। यहाँ तो साधारणीकरण चाहिए जो साध्य दशा में ही सम्भव है।

---

१ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
२ आमेखलं सञ्चरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः।।
—कुमारसम्भव १

साध्यदशा का अधिष्ठान सिद्धदशा ही है पर उसे सिद्धि पाये बिना जान नहीं सकते। साधारण सहृदय सिद्धि पाया हुआ नहीं होता और हो भी तो काव्य का उसके लिए कोई उपयोग नहीं रहता—विक्षेपदशा में वैसा काव्य पढ़कर अपने समय का किंचित उपयोग भले कर ले। काव्य रचना भाव के धरातल की वस्तु है जहाँ साध्यावस्था का ही राज्य है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि आत्मा का स्वरूप स्थितिशील न होकर गत्यात्मक है, क्रियात्मक है साध्यरूप ही है।[1] शैवदर्शन तथा व्याकरणदर्शन की ऐसी मान्यता है—वहाँ द्रव्यरूप सिद्ध तत्त्व अण्ड रूप है जिस में भरे हुए तरल द्रव के समान साध्य तत्त्व उस सिद्धरूप से अभिन्न ही रहता है। वस्तुत द्रव्य वही है जो द्रव में बदला जा सके—गत्यर्थक द्रु धातु से दोनों ही की निष्पत्ति हुई है एक में यत प्रत्यय है तो दूसरे में अ प्रत्यय है। अत द्रव्य और 'क्रिया तत्त्व व्यावहारिक भेद रख कर भी अभिन्न हैं। द्रव्य यदि शक्तिमान है तो क्रिया शक्ति है और दोनों मूलत एक हैं।[2]

श्री जयदेवसिंह की सम्मति में— इसे स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि परमार्थ सदा सिद्ध ही होता है वह कभी भी साध्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा होने पर वह विकार्य हो जायगा। श्री शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में पद पद पर इस बात को स्पष्ट किया है।[3]

वस्तुत साध्यपक्ष सिद्ध का विवर्तमात्र है अत वह साध्यता भी शाङ्कर मत में अतात्त्विक हो रहेगी पर विवर्त्य तथा विवर्तमान तत्त्वों की अभिन्नता वहाँ भी मान्य है। काव्य की गति साध्य से सिद्ध की है क्योंकि कि काव्य एक व्यापार है कविकर्म' है। सिद्धदशा पाने पर तो काव्य पीछे रह जाता है। सच तो यह है कि सिद्धदशा में योग साधना भी थम ठहरती है।

रहस्य के विविध धरातल

जड़ चेतन का भेद अत्यन्त स्थूलता से समझा जाने लगा है पर वस्तुत दोनों का व्यावहारिक अन्तर भी बुद्धिगम्य बनाना कठिन है। न्याय की

---

१ चैतन्यमात्मा—शिवसूत्र १.१ ॥ चैतन्यं चिति क्रियारूपम्—वार्तिक

२ सैव शक्तिः शक्तिमतो न भेदो द्रव्य-क्रमवत्।
स्यादियं द्रव्यता भिन्ना क्रियाता न च नास्ति सा ॥—शिवदृष्टि—६.१ ॥

३ दिनांक १९-५-६३ के पत्र से उद्धृत ॥

यथार्थवादी दृष्टि आत्मा को अन्य द्रव्यों तथा पदार्थों से पृथक गिन कर भी उसे चैतन्य स्वरूप नहीं कह पाता, सिवा इसके कि क्षणिक बुद्धिरूप गुण का वह आश्रय है और प्रतीतिधारा ही चेतना है अतः आत्मा चेतनावान है। सच पूछा जाय तो न्याय का आत्मा अपने स्वरूप में जड़ है यद्यपि जड़ चेतना का विभाजन उन्हें मान्य नहीं। सांख्य के अनुसार न केवल पञ्चभूतमय शरीर ही जड़ है इन्द्रिय और मन चित्त-बुद्धि अहंकार भी जड़ तत्त्व हैं केवल पुरुष चेतन है जिस के प्रभाव से समस्त जड़तत्त्व चेतनवत् भासित होते हैं। यह चेतनाभास स्थूल शरीर पर्यन्त समानरूप से विद्यमान है। बौद्धों के अनुसार स्थूल-सूक्ष्म सब कुछ विज्ञान या प्रतीति की धारामात्र है जड़ चेतन का तात्त्विक अन्तर नहीं। यदि प्रतीति ही चेतना है तो स्थूल से स्थूल तत्त्व भी चैतन्य है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही जगत का कारण है जो माया से विविध रूपा हुआ भी मूलतः अद्वय है और ब्रह्म स्वरूप ही है—'सर्व खल्विदं ब्रह्म'। शैवदर्शन तो जगत को न केवल चित्त का रूप ही मानता है अपितु नित्य भी मानता है। चार्वाक आदि (मार्क्स डार्विन आदि भी तो) जड़वादी दर्शन चैतन्य को जड़ता का विकास मात्र मानते हैं फलतः दोनों में अभेद है। भक्तिदर्शनों में पूर्णतया द्वैतवादी मध्व-दर्शन भी चैतन्य को व्यापक मानता है अतः जड़ में उसकी व्याप्ति स्वतः सिद्ध है। जैनदर्शन जीव को व्यापक न मान कर संकोच विकासशील मानता हुआ शरीर के बराबर का मानता है पर शरीर भर में उसकी व्याप्ति मान्य है।

चाहे जिस दृष्टि से समझा जाय स्थूल से सूक्ष्म की दिशा में प्रगति ही वास्तव विकास है। यह विकास चाहे डार्विन का हो जिसमें जीवन विकास बुद्धि का उत्कर्ष देखा चलता है, चाहे मार्क्स का हो जो विरोध परिहार के लिए समाजवादी समन्वय की शरण चाहता है, चाहे वेदान्त का आन्तरिक विकास हो अथवा शैवों का जो स्थूलाभिमान छोड़ने छोड़ते आत्मविस्तार करने को मान्यता देता है और चाहे वर्णों का नेति नेति विकास हो जो स्थूल का विरोध करते-करते विधि रूप सूक्ष्म तत्त्व तक पहुंचने का क्रम प्रस्तुत करता है—सभी प्रकारों में चेतना के विकास का संकेत खोजा जा सकता है केवल स्थूल प्रक्रियाओं तथा पारिभाषिक अवधारणाओं में अन्तर होगा।

इस प्रकार रहस्य तत्त्व स्थूल सूक्ष्म सर्वत्र व्याप्त है।

२ आध्यात्मिक विकास की लम्बी यात्रा में प्रतीति के ठहराव का अभ्यास कराया जाता है जिसमें वहाँ तक की सिद्धि हस्तगत हो जाय और

फिर आगे बढ़ा जा सके। आगे चलने पर फिर ठहराव अपेक्षित है। इसी प्रकार चलते चलते चरम लक्ष्य की सिद्धि—पूर्ण विकास—प्राप्त हो जाता है जहाँ सभी भेद विरोध द्वन्द्व तिरोहित हो जाते हैं क्योंकि द्वन्द्वों के उद्गम पर पहुँच कर उनकी समाप्ति फलित हो जाती है जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा है—

उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध॥

उस चरम दशा की अनुभूति इस रूप में बुद्धिगम्य होकर हृदयंगम हो सकती है।

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।[1]
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था॥

अथवा सरहपाद का जैसा कथन है— अद्वय प्रतीति रूपी तरुवर का त्रिभुवन में विस्तार हो गया करुणा फूल बन गई और (आनन्द का) फल धारण करता है अब और कहीं उपकार नहीं।"[2]

परन्तु विकास क्रम में अनेक ठहराव हो सकते हैं। गुरु शिष्य को जहाँ ठहरा दे वह उस मत का पड़ाव या लोक हो जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सभी मतों का उल्लेख न सम्भव ही है और न अपेक्षित ही कुछ प्रचलित मतों में चेतना के स्तरों का तथा उसी क्रम से विकास का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

(क) इसलाम में चार बसेरे मान्य हैं—शरीयत तरीकत मारिफत और हकीकत। ये ही सालिक सूफी जायसी ने गिनाये हैं—

कही तरीकत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू॥
तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुन्द जल जिउ न डराई॥

---

१ कामायनी—आनन्द॥

२ अद्वय चित्त तरुवरहो गउ तिहुअणि वित्थार।
करुणा फुल्लो फलु धरइ नाहि परत्त उआर॥ —दोहाकोश

जहिँ रसन सेवक भला । जाइ उतरि निरभय सो चला ॥
राह हकीकत परै न चूकी । पैठि मारफत मारि बुड़की ॥
ढूंढि उठ लेइ मानिक मोती । जाइ समाइ जोति महँ जोती ॥
जेहि घट उह अस नाव चढ़ावा । कर गहि नीर खेइ लेइ आवा ॥

सांचो गहु सरायत, जेहि बिसवास न होइ ।
पांव राखि तेहि सीढ़ी निभरम पहुंच सोइ ॥[1]

इस्लाम मे ये उपलब्धियां नहीं हैं । चौथी हकीकत भले ही सत्य की उपलब्धि देता है । सम्भवतः यही आठवां स्वर्ग है जिसे 'नदाद' कहते हैं जहाँ अल्लाह की कुर्सी है । इससे पूर्व सात स्वर्ग भी मान्य हैं

सात बिहिस्त बिधन ओनारा । औ आठइं 'नदाद' सवारा ॥[2]
तथा खलिहैं आठो पवंरि दुआरा ।[3]
'एक एक मंदिर सात दुआरा ।[4]

इसी दृष्टि से कहा गया है

चारि बसेरे सौं चढ़ै सत सौं उतरै पार ।[5]

पार उतरने पर जो दशा आठवें लोक में होती है वह इस प्रकार है

तहां न मीच न नींद दुख रह न देह महं रोग ।
सदा अनन्द 'महम्मद' सब सुख मानें भोग ॥[6]

अपने यहाँ भी सात लोक—भूः भुवः स्वः महः जनः, तपः सत्यम—माने गये हैं । सत्य की तुलना हकीकत के साथ एकार्थता के कारण की जा

१ अखरावट—२६ ।
२ आखिरी कलाम—५३ ।
३ वही—५६ ।
४ वही—५७ ।
५ पद्मावत—६० ।
६ आखिरी कलाम—९० ।

सकती है। ये लोक स्थूल स सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होकर सत्यम में सूक्ष्मतम हो जाते हैं। विश्व रचना म ये जागतिक विभाग हो सकते हैं जिन्हे साधना मे प्रगति के पडाव भी मान सकत हैं।[1]

हठयोग-पद्धति म छ चक्रो क भेदन का महत्त्व है। यह सिद्धात बहुत कुछ प्राण के नियमन के आधार पर कल्पित है। प्राणायाम की पद्धति स इसका विशेष सम्बन्ध है। शरीर में तीन प्रमुख नाडियाँ हैं जो नीचे से भ्रुकुटी क मध्यभाग तक जाती हैं और भ्रुकुटी उपर जिसे त्रिकुटी कहते है तीनो सगम लेती हैं। इनम प्रथम ईडा अथवा सूयनाडी है जिसे गगा भी कहते है द्वितीय नाडी पिंगला अथवा चन्द्रनाडी है जिसे यमुना भी कहते हैं और तृतीय सुषुम्ना अथवा अग्निनाडी है जिसे सरस्वती नदी की सज्ञा प्राप्त है।[2] इडा दक्षिण और पिंगला वाम भाग म है। इन्हीं का उपयोग श्वास प्रश्वास क्रम म एक एक पहर के लिए होता है पहर भर के बाद परिवतन होता रहता है। भारतीय चिन्तन म याम और प्रहर प्राय इसी आधार पर बने है। याम का आयाम से सम्बन्ध है और उसी का प्राणायाम होता है। चूकि उसीसे जीवन के नियमन का काम होता है। अत याम नाम साथक भी है प्रहर प्रहार से सम्बद्ध है जीवन क त्रुटित होन का अथ इसीसे निकलता है। प्रहर का ही एक अग त्रुटि है। दण्ड शब्द जो घटी का वाचक है भी प्रहर का अथ समन्वय देता है।[3] एक प्रहर म आठ दण्ड होते हैं और प्रत्येक दण्ड म साठ साठ त्रुटियाँ होती हैं—त्रुटि को पल अथवा निमेष भी कहते है जिसका सम्बन्ध श्वास प्रश्वास से न होकर नत्रो के निमीलन तथा उन्मीलन से है। प्रत्यक क्रिया क्षणिक होती है और क्षण का भी सम्बन्ध क्षणु हिंसायाम धातु से है जसा कि प्रहर का—

---

१ मैं समझता हू भू भुव स्व इत्यादि का स्वग कहना ठीक नही होगा। ये व्यवहृतियाँ ब्रह्म की भिन्न स्तरों की अभिव्यक्ति हैं जिनमें भू सबस स्थूल भुव कछ सूक्ष्म जिसम प्राण का प्राधान्य है स्व जिसमें मन का प्राधान्य है मह जिसम बुद्धि का प्राधान्य है इत्यादि।

—श्री जयदेव सिंह—व्यक्तिगत पत्र—दि १९-५-६३

२ इडा गगति विज्ञया पिगला यमुना नदी।
मध्ये सरस्वती विद्यात प्रयाग सगमो मत ॥

—आचाय हेमचद्र कुमारपाल चरित की टीका से

३ द्वयो र्धमिभूययो = इडापिङ्गलया। —वही ८-१८

'क्षणोति = हिनस्ति, नाशयति इतिक्षण ।'[1] क्षणायक लव शब्द भी काटने की अर्थवाली 'लू' धातु से है। कालशक्ति की इस महिमा की ऐसी व्याप्ति का लेकर गोस्वामी जी ने कहा है

'लवनिमेष परिमाण जुग, बरष कल्प सर चण्ड ।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, काल जासु को दण्ड ॥　　—मानस

शरीर में आँख कान, नाक, मुख वायु और उपस्थ मे नवद्वार हैं अत गीता में इस नवद्वारों का नगर कहा गया है[2] और ब्रह्मरन्ध्र को गगन अथवा दशम द्वार कहा जाता है।[3] वहाँ से समस्त शरीर का क्रियाकलाप संचालित होता है जैसा कि जायसी ने कहा है

नौ पौरी पर दसवें दुआरा। तेहि पर बाज राजघरियारा ॥

उक्त तीनों मे से सुषुम्ना नाड़ी को सिद्धि तथा निर्वाण का कारण माना है वह मध्यमा नाड़ी है।[4] इस नाड़ी को छ भागों में विभक्त कर षट चक्र में विभक्त कर प्रत्येक चक्र-केन्द्र की कमल रूप में भावना की व्यवस्था की गई है। कहीं-कहीं आठ चक्रों मे भी विभाजन है।[5] छ संख्या ही अधिक प्रचलित है—मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। सातवाँ सहस्रार चक्र ही प्राप्य स्थान है। जायसी ने सात समुद्रों का वर्णन कदाचित इसी आधार पर किया है—छ समुद्र भयानक हैं क्योंकि उनको पार करना कठिन है योग्य गुरु ही कर्णधार हो सकता है परन्तु सातवाँ समुद्र तो प्राप्य स्थान का ही भाग है अत अत्यन्त मनोरम रूप में चित्रित हुआ है। देवी

१　घरी सो बैठि गनै घरियारी। पहर पहर सो आपनि बारी ॥
जबहि घरी पूजि तेहि मारा। घरी घरी घरियार पुकारा ॥
परा जो डाँड जगत सब डाँडा। का निचिन्त माटी कर भाँडा ॥
—पद्मावत-सिंहलद्वीप-१८

२　नवद्वारे पुरे देही नव कुर्वन् न कारयन ।

३　गगन ब्रह्मरन्ध्र दशमद्वारमिति यावत ।—कुमारपाल चरित टीका ८-२४

४　मध्या सुषुम्णाख्याता सिद्धिनिर्वाण कारणम —वही ८-१५ पर उद्धरण।

५　अष्टाचक्रा नव-द्वारा देवाना पूरयोध्या ।
तस्या हिरण्मय कोष स्वर्गोज्योतिषावृत ॥　—अथर्ववेद १०-२-३१

भागवत म सातो देवी लोका का वणन मनोरम है और यही भारतीय पद्धति है। सभी चक्रा मे विचित्र अनुभव होते हैं। वे सभी अनुभूतिया क धरातल हैं।

१ मूलाधार चक्र—यह पायु और उपस्य क मध्य स्थित चार दलवाला लाल कमल है। मध्य म भूमण्डल है। वहीं ब्रह्मा स्थित है जिनका प्रकाश प्रात काल के सूय के समान है। कणिका क बीच त्रिकाण है जिस त्रिपुर भी कहत हैं। इसके बीच म स्वयम्भुलिंग है। उसी स्वयम्भू पर सर्पाकार कुण्डलिनी शक्ति साई हुई है। इस कुण्डलिनी क जागत होने स वहाँ की विचित्र अनुभूतियाँ होती है। कुण्डलिनी स ऊपर परा शक्ति विद्यमान है। यह परा करोडों सूर्यो क प्रकाशवाली है। इस चक्र की शक्ति डाकिनी है।[1]

२ स्वाधिष्ठान चक्र—उपस्थ (लिङ्गमूल) स्थान म आधार चक्र क ऊपर स्वाधिष्ठान है। यह छ दलो का कमल है। उसक बीच म कमलाकार जलमण्डल है जहा वरुण की स्थिति है। उसके मध्य म विष्णु की स्थिति है। यहाँ की शक्ति राकिणी है जा महाकाली है।[2] (सभवत यही दुर्गासप्तशती की योगनिद्रा है अथवा निद्राख्या है।)

३ मणिपूर चक्र—नाभिमूल म दस दलो वाला मणिपूर नाम का लाल कमल है। इसके बीच म त्रिकाण है जहाँ अग्निबीज है। वहाँ रुद्र अरुण रग म विद्यमान हैं। यहाँ लाकिनी शक्ति है।[3]

४ अनाहत चक्र—हृदय म द्वादश दल अरुण कमल है जिसे अनाहत कहत हैं यही कल्पवृक्ष है। मध्य म षटकोण है उसम वायुबीज का वास है। यहाँ अभय मुद्रा वाल ईश्वर का निवास है। यहाँ की शक्ति पीतवर्णा है। यहाँ पर बाण नाम का शिवलिंग है। यहाँ पहुँचकर योगी मन्त्रद्रष्टा हो जाता है।[4]

५ विशुद्ध चक्र—कण्ठ म षोडशदल विशुद्ध नाम का कमल है। य अर्धनारीश्वर का निवास है। (यहा पञ्चशाम्भवी का देवता है।) इसी का

---

१ षटचक्रनिरूपणम—१–१४ ॥
२ वही १५–१९ ॥
३ वही २०–२२ ॥
४ वही २३–२८ ॥

सदाशिव कहते हैं। यहाँ की शक्ति शाकिनी है। यहाँ जीव विशुद्ध होकर त्रिकालदर्शी हो जाता है।[1]

६ आज्ञा चक्र—भौंहों के ऊपर आज्ञा नाम का द्विदल श्वेत कमल है। यहाँ की शक्ति हाकिनी है। यही मन का स्थान है। यहाँ शिवलिंग का वास है। यहाँ प्रणव का प्रकाश रहता है। यहीं पर योगी को 'सोऽहं' का प्रतीति होती है। वह सर्वज्ञ हो जाता है।[2] इस चक्र का बड़ा महत्त्व है। यहीं से योगी षोडशाधार योग में प्रवेश करता है—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, बिन्दु, कलापद, निबोधिका, अर्धचन्द्र, नाद, नादान्त, उन्मनी, विष्णुचक्र, ध्रुवमण्डल और शिव। अन्तिम शिव सहस्रार चक्र में है।[3]

७ सहस्रार चक्र—आज्ञा चक्र के आगे तथा सहस्रदलकमल के नीचे कारणशरीर अथवा 'आनन्दमयकोश' का स्थान है। यहाँ महानाद का वास है। शून्य में मस्तकस्थित सहस्रार अथवा सहस्रदलकमल है। यह श्वेत कमल है। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपरी भाग में विसर्ग बिन्दु है जिसका एक बिन्दु 'नित्यानन्द' और दूसरा निरञ्जन है। यह कमल कैवल्यानन्द रूप है। यहीं सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल है। चन्द्रमा का निर्वाणकला से सम्बन्ध है। यहीं त्रिकोण में परमशिव का वास है जो ब्रह्म रूप है। यहीं शाक्तों की देवी है और वैष्णवों का विष्णु है। यही शिव-शक्ति के मिलन का केन्द्र है। मिलन से अमृत झरता है। यहाँ करोड़ों बिजलियों का प्रकाश होता है।[4] यही नाद अथवा सूर्यतत्त्व है जो क्रियारूप है, बिन्दु अथवा चन्द्रमा इच्छारूप है और निबोधिका अथवा अग्नि ज्ञानशक्ति है। यही स्थान है जो मन और वाणी से परे है।[5]

८ नाद, बिन्दु और बीज—ज्ञानरूप शिवतत्त्व बीज रूप है और क्रिया रूप शक्ति अंकुर है। इसी को बीजांकुर कहा जाता है। यही

---

१ षट्चक्र निरूपणम् २९–३२ ॥
२ वही ३३–३९ ॥
३ षट्चक्र निरूपणम्—३४ की टीका ॥
४ तुलनीय—बिजली माला पहन फिर, मुसक्याता सा आँगन में।
हाँ कौन बरस जाता था रस-बूँद हमारे मन में ॥—आँसू
५ षट्चक्र निरूपणम्—४०–५० ॥

बीजाङ्कुर पराशक्ति है जो अह पद म कही जाती है[1]—अ स ह तक के पचास अक्षरा का उसी का स्वरूप है वही पराशक्ति वणमयी है ।[2] शिव तथा शक्ति क पृथक पृथक श्वेत और शोण रग विदु कल्पित हैं जो समस्त वाणीरूप तथा पदाथ रूप हैं । इन्ही दोनो का मिलित स्वरूप—जो क्रमश अग्नि और सोम नामक बिन्दुओ का मिलन है—रवि बिन्दु कहलाता है । यही बिन्दु समस्त सष्टि का कारणरूप है और निसीम सौदय रूप कमनीयता का आगार है अत काम कहा जाता है । इसी काम की विमश शक्ति जो उससे अभिन्न है कला या 'कामकला' कही जाती है । तीन बिन्दुओ के त्रिपुर का आकार लेने से यही महात्रिपुर सुन्दरी शाक्तो म कही जाती है ।[3] इस देवी का मुख सूयबिन्दु स्तनयुगल सितशोण बिन्दु है जिनम म शोणबिन्दु क स्फुरित होने पर नाद व्यक्त होता है जो ब्रह्मरूप है । एक यही नाद है जिसम नाद बिन्दु का विभाग नही है अत सदा एकरस यक्त एव व्याप्त यही नाद *अनाहतनाद कहा जाता है ।*[4] इसी नाद से समस्त जगत की *नामरूपात्मक* सष्टि होती है—यही नाद ब्रह्म है । सहस्रार म ही इन सभी नाद बिन्दु और बीज की स्थिति महानाद रूप परमशिव क नीचे है ।

९ कुण्डलिनी—सुषुम्ना नाडी क मध्य म वज्रा और उसके भी मध्य म चित्रिणी नाडी ह । य तीनो क्रमश तमस रजस और सत्त्वगुण वाली हैं । यह चित्रिणी प्रणवयुक्त है । चित्रिणी मूलाधार के नीचे से सहस्रार क मध्य तक जाती है । चित्रिणी के बीच म कुण्डलिनी शक्ति का निवास है । योगी जब कुण्डलिनी में पहुचता है तो शुद्धबोध का उदय होता है । चित्रिणी के मध्य म भी *ब्रह्मनाडी है । यही कुण्डलिनी जब जगकर ऊर्ध्वमुखी होती* है तब सिद्धियों की प्राप्ति आरम्भ होती है । यह शक्ति सहस्रार मे परमशिव से जा मिलती है ।[5]

---

१ स्फुट शिव शक्ति-समागम बीजाङ्कुर रूपणी पराशक्ति ।
—कामकलाविलास ३ ।

२ वही—४ ८ तथा टीका ।।

वही—९ तथा टीका

४ एको नादात्मको वण सवनादाविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इति श्रत ।।—व ि टीका ।।

५ स्वामी पूर्णानन्द परमहंस जी—तत्त्वचिन्तामणि स षटचक्रनिरूपणम ।।

१० 'हंस' और 'सोऽहं'—साधारणतः हंस सूर्य को कहते हैं। यह वही सूर्य है जिसका बिन्दुरूप में उल्लेख सहस्रार के विवरण में आ चुका है। यही 'हंस' की स्थिति है जहाँ शुद्ध आत्मबोध होता है—अतएव आत्मा को भी हंस कहा जाता है क्योंकि जीवात्मा अहंप्रधान होता है। 'अहं+स' = मैं ब्रह्म हूँ का सूक्ष्म अभिमान ही इसका कारण है। सूर्यबिन्दु से ऊपर सोऽहं की स्थिति आती है—स+अहं = ब्रह्म मैं हूँ यह दशा ही सच्ची ब्रह्मावस्था अथवा मोक्ष दशा है। यही पूर्ण अहंता की स्थिति है।

यह पिण्ड अथवा व्यष्टि में ब्रह्माण्ड अथवा समष्टि देखने की प्रक्रिया है जो तन्त्रों और आगमों में प्रचलित रही है। व्यष्टि और समष्टि दोनों का विवेचना कोशों के रूप में उपनिषदों में हुई है।

उक्त चक्रादि साधना आन्तरिक योग साधना है। इसमें बाह्य जगत से हटकर अन्तर्लोक में सिद्धि खोजनी होती है। कारण कि भोगों का आयतन शरीर है और जगत भोग्य है। भोग्य से हटने पर भोग साधनारूप इन्द्रिय निर्व्यापार हो जाती और चित्त की एकाग्रता सुलभ हो जाती है। इसी प्रणाली का उपयोग बौद्ध-सिद्धों, नाथपन्थियों, कबीर आदि सन्तों और जायसी आदि सूफियों ने अपने काव्यों में किया है—कुछ अन्तर से यही साधना प्रणाली भी हो सकती है।

परन्तु उपनिषदों में कोशों का वर्णन है जो पृथक रहस्य के धरातलों का विवरण देता है।

(ग) उपनिषदों में पाँच कोशों द्वारा पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों का विभाजन है।[1] साधना में और रहस्यानुभूति में व्यष्टिगत कोशों का ही देखना है।

क— कारण शरीर अथवा सुषुप्ति दशा —

१ आनन्दमय कोश—अज्ञान अथवा माया से सवलित ब्रह्म समष्टि का आनन्दमय कोश है और वही व्यष्टियों का भी। इसी को कारण शरीर तथा सुषुप्ति दशा कहते हैं। व्यावहारिक रूप से पुरुष इस दशा में गम्भीर निद्रा लेता है जिससे जगकर कहता है 'सुख से सोया कुछ न जाना।'

---

१ देखिए—माण्डूक्य और तैत्तिरीय उपनिषद्॥

इस कथन में सुख प्रतीति आनन्दमय ज्ञान अथवा ब्रह्म का रूप है और न जानना अज्ञान अथवा माया है।

ब— सूक्ष्म शरीर अथवा स्वप्न दशा —

२ विज्ञानमयकोश—निश्चयात्मिका बुद्धि तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के समुदित रूप से इस कोश की रचना है।

३ मनोमय कोश—संकल्पात्मक मन तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के मेल से मनोमय कोश की रचना है।

४ प्राणमय कोश—पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच प्राण प्राण अपान उदान व्यान और समान—इन दस तत्वों के समुदाय को प्राणमय कोश कहते हैं।

समष्टि और व्यष्टि दोनों में यह स्वप्न अथवा सूक्ष्म शरीर है जो तीन कोशों से निर्मित है। (सांख्य में इसे लिंग शरीर कहते हैं जिसमें दस इन्द्रिय पाँच सूक्ष्मभूत और अन्तःकरण—अहंकार और मन—का योग रहता है)

स— स्थूल शरीर अथवा जाग्रत दशा —

५ अन्नमय कोश—यह पाञ्चभौतिक है।

इस समस्त प्रपञ्च में एक ही आनन्द तत्त्व अनुस्यूत है। उसी की सत्ता से प्रपञ्च की सत्ता है। उसी से उत्पन्न यह प्रपञ्च जीता है उसी में गति करता है और अंततः उसी में लीन हो जाता है।[1] उस आनन्द कला की सवत्र रसानुभूति होती है और ये सभी उसके विविध धरातल हैं। जो सर्वज्ञ होता है वह इस लोक से निवृत होकर अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय और आनन्दमय आत्मा को

---

१ आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात आनन्दात्त ह्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यभि संविशन्ति इति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन प्रतिष्ठिता।

—तैत्तिरीय उपनिषद् ३ ६

उपसंक्रमण करके इन लोकों को भोगरूप में कामरूप लेकर संचरण करता हुआ आनन्दघन सामसंगीत गाता रहता है।[1]

थियोसॉफी में शरीरों का विभाजन कुछ और प्रकार से है —

(क) भौतिक शरीर—इसमें दो शरीर हैं (१) स्थूल शरीर और २ लिंग शरीर। लिंग शरीर ठीक स्थूल की प्रतिकृति होता है जो सूक्ष्म भूतों से बना होता है।[2]

(ख) काममय शरीर—यह इच्छात्मक मनस्तत्त्व का मण्डल है जो उक्त भौतिक शरीर को अनुस्यूत कर बाहर तक व्याप्त रहता है। इस दशा में भौतिक दशा का और विकास उपलब्ध होता है और इस दशा में पुरुष जानने लगता है कि जगत और उसका वैयक्तिक जीवन अधिक उच्च हो गया है जैसा कि पहले नहीं था। उच्चतर मानवता की सम्भावनायें उसके समक्ष स्पष्ट होने लगती हैं।[3]

(ग) मानस शरीर—इसके दो भाग हैं (१) मनोमय शरीर और (२) बुद्धिमय शरीर। बुद्धिमय = आत्मा + बुद्धि। यही प्रथम शरीर है—सम्भवतः पूर्वोक्त कारण शरीर का समकक्ष है। अतः (Aus 1 body) नाम दिया है।[4]

इस विभाजन के लिए मिसेज एनीबेसण्ट ने स्वानुभूति को प्रमाण बतलाया है परन्तु यह भी स्वीकार किया है कि भूल हो सकती है जैसा कि वैज्ञानिक प्रयोगों में होती है।[5]

---

1 स य एवंवित्। अस्माल्लोकात् प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् एतत् साम गायन्नास्ते। —वही ३ १०॥

2 2 3 Man and his bodies

3 We have reached a point at which much that was accepted as theory has become matter of first hand knowledge but just as the physicist may err so may the meta physicist and as knowledge wisdom new lights are thrown on old facts—Ibid P 12

आज के वैज्ञानिक युग में रहस्यात्मक अनुभूतियों तथा तत्सम्बन्धी धरातलों की खिल्ली उड़ाई जा सकती है परन्तु रहस्यानुभूति भी एक अनुभूत सत्य है जिसे परीक्षणा में खरा उतारा जा सकता है ठीक भौतिक तथा गणितीय तथ्यों के समान ही। यद्यपि वह प्रमाण स्थूल तर्क से सम्भवत प्रमाणित न किया जा सकेगा।[1] इस प्रकार हम स्पष्ट पाते हैं कि विविध धरातलों में व्यक्त हुई असीम सत्ता अपने को और भी अव्यक्त कर लेती है।[2] यही तो रहस्य है।

(घ) पातञ्जल योगशास्त्र के विभूतिपाद में विविध रहस्यमयी सिद्धियों का उल्लेख हुआ है जिनके धरातल भिन्न भिन्न बताए गये हैं। इन विलक्षण अलौकिक अनुभूतियों के कारणरूप में संयम का महत्त्व दिया है—धारणाध्यान और सविकल्प समाधि के समुदित रूप को एकत्र संयम कहते हैं।[3] परन्तु योग की चरम उपलब्धि इन धरातलों पर नहीं मानी गई है। वहाँ कैवल्य को ही प्राप्य माना गया है। जिसका धरातल स्वरूप प्रतिष्ठा का

---

1 Science we read derives its ideas of what is valuable from its knowledge of the nature of things and any criteria not found by reference to the whole line of human evolution are dismissed as based on mysticism for the post or motives of personal advantage. But the mysticism (if the word must be used) can be shown to be as well based and as amply proved in experience by those empirical texts to which science by definition always appeals as the most matter of fact of physical and mat ematical laws though proof may not be a rational one

—W II Honey—Science and the Creative Arts P 11

2 Some think Creat on s meant to show Him forth
I say it s meant to hide Him all it can
And that s what all th- blessed evils for

—Browning quoted in the above P 46

३ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि। त्रयमेकत्र संयम।—योगसूत्र ३ १ ४

धरातल है और वही परमपद है। वही स्वरूप अवस्था है[1] जहाँ से फिर जागतिक उपलब्धियों में प्रत्यागमन नहीं होता।[2]

+ + +

योग तथा वेदान्त के रहस्य दर्शन में आपाततः यह अन्तर दीखता है कि योगसाधना सांख्य के अनेकत्वमूलक पुरुष की साधना है अतः व्यष्टिपरक है जबकि वेदान्त समष्टि चेतना को ही सत्य मानता है अतः कायामुक्त होते ही अद्वैत की उपलब्धि हो जाती है जहाँ सूर्य चन्द्र नक्षत्र तक का अनेकता एकता में लीन रहा करती है।[3]

शैवदर्शन ने रहस्यानुभूति का कुछ अन्तर से विधान रखा है। अतः धरातलों का निर्धारण भी तदनुरूप ही मानना चाहिए। परमशिव ने ज्ञान इच्छा और क्रिया का सम्मिलित स्वकीय शक्ति चार अण्डों का निर्माण किया है—शक्ति माया, प्रकृति और पृथ्वी। कोशतुल्य आच्छादक होने से तथा अपने भीतर पदार्थजाल छिपाये रहने से अण्ड नाम की सार्थकता है।

१ पूर्ण अहंता के चमत्कार वाली आत्म प्रतीतिमयी शक्ति है जो अण्डरूपा है। इसके अन्तर्गत सदाशिव ईश्वर और शुद्ध विद्या नाम के तीन दल अवान्तर रूप से विद्यमान हैं। यह अण्ड आगे के तीन अण्डों को अपने में लिए है।

२ तीन मलों के स्वभाववाला मोहात्मक बन्धनरूप माया नामक अण्ड है जिसमें पाँच कञ्चुक—काल कला, नियति राग विद्या (अविद्या अथवा ज्ञान)—और पुरुष (पशु आयु अथवा जीव) ये छः अवान्तर रूप से विद्यमान हैं। शेष दो अण्ड इसके भीतर रहते हैं। इसके स्वामी रुद्र हैं जो मायाशवल शिवतत्त्व हैं। * *

३ सत्त्व रजस तमस स्वभाववाली प्रकृति तीसरा अण्ड है। ये। पशु अर्थात जीवों की भोग्यरूपा है। सुख-दुःख मोह देने वाली है। इसके स्वामी

---

१ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः —वही ४ ३४ ॥

२ यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।—गीता ॥

३ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

विष्णु हैं जो भेदप्रधान प्रकृतिमबल शिवतत्त्व का रूप है। इसके अन्तर्गत २३ तत्त्व आते है—बुद्धि अहंकार मनस पञ्चज्ञानेन्द्रिय पाँच सूक्ष्मतत्त्व या विषय पञ्चमहाभूत। मूल प्रकृति समेत २४ तत्त्व सांख्यवाले य ही हैं। शेष पृथ्वी अण्ड इसके भीतर विद्यमान है ही।

४ पृथ्वी अण्ड चौथा है जिसके अन्तर्गत मनुष्यादि सभी स्थावर जगम जीवजगत आ जाता है। यह स्थूल पञ्चकमयी हैं। इस अण्ड का स्वामी ब्रह्मा है।[1]

इन अण्डो म ३६ तत्त्व चैतन्य के विविध धरातल ह जो उत्तरोत्तर सकोच द्वारा प्रकटतर होते गये हैं। उपर्युक्त मलो के नाश स इन धरातलो पर रहस्य चैतन्य की अनुभूति हो सकती है। ये मल हैं—आणव मायीय और काम।

१ आणवमल—परमेश्वर बधनरूप म जिस ज्ञान को अपनाता है वही आणवमल है। कारण कि इसी को अपनाकर शिवतत्त्व अणुरूप म प्रकट होता है। आत्म में अनात्म प्रतीति अनात्म म आत्मप्रतीति अर्थात शरीर आदि को आत्मा मान बैठना—दो प्रकार का आणव मल होता है।[3] यही संकेत श्रीमती एनीबेसेण्ट ने किया है— पश्चिम के पाठक को अपनी धारणा बदल देनी चाहिए जिसके अधीन वह इस बात का अभ्यासी रहा है कि अपने को शरीराभिमानी मानता रहा है जबकि शरीर मनुष्य का निवास है। हम (पाश्चात्य) अपने द्वारा पहने हुए परिधानो के साथ अपने को अभिन्न मानने के अभ्यासी हो गये हैं हमें पूर्णत तर्कोचित लगता है जब हम सोचते हैं कि हम शरीर हैं। यदि हम आगे बढ़ना है तो हम यह विचार (अभिमान) छोड़ देना चाहिए कि हम वही पहनावा हैं जिस सामयिक रूप स पहन रखा है और फेंक देंगे और दूसरे नये धारण कर लेंगे।[4]

२ मायीय मल—विविध वेद्यनीय तत्त्वो की द्वैतमयी प्रतीति ही मायीय मल है क्योंकि माया भेद बुद्धि को है। यह प्रतीयमान तत्त्वो को परिच्छिन्न रूप म लाती है।

---

१ परमार्थसार—४ तथा वरदराज की टीका।

२ ज्ञान बंध —शिवसूत्र १ २।

३ शिवसूत्रवार्तिक—१ १५–१६।

4 Man and His Bodies—p 2

३ काम मल—पाप तथा पुण्य के व्यापार काम मल हैं। इसमें वास्तव कर्ता का बोध नहीं रहता।

वस्तुत: उक्त तीनों मल मायाशक्ति से ही निष्पन्न हैं।[1]

\+ + +

मलोत्पन्ना सृष्टि में लिप्त रहने के कारण 'मल' हैं उनकी प्रक्रिया 'मातृका' कही जाती है। 'मातृका ही ज्ञान का आधार है'[2] जो मानव-बन्धन है। अकारादि की वर्णमाला ही मातृका है जिसके शब्दों में अखिल पदार्थ अनुविद्ध होकर भासित होते हैं।[3] अतएव मार्कण्डेय पुराण में अक्षर मात्राओं को देवी रूप कहा है।[4] 'शिव से लेकर क्षिति' तक सभी पदार्थ अक्षरवेद्य होते हैं और वे अक्षर रूढ़ प्रतीति देकर बन्धन में डाल देते हैं।[5] अतः निरक्षर होने तक ही अक्षरों में लिप्त होने का उपदेश है—अक्षरमय बुद्धिवाद दूर तक साथ नहीं देता। सरहपाद का इसी सम्बन्ध में कथन है— समस्त जगत अक्षर-व्याप्त है, कोई निरक्षर नहीं। तब तक उन अक्षरों में लिप्त रहो जब तक निरक्षर न हो जाओ।[6]

\+ + +

इस बन्धन के शमन का उपाय 'भैरव' कहा जाता है।[7] विमर्श नाम की 'संवित् शक्ति' अकस्मात् उछलती है और प्रतिभा स्फुरित हो उठती है,

---

१ स्वातन्त्र्य हानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता। द्विधाणव मलमिदं स्वस्वरूपापहारतः।
भिन्न वेद्य प्रथात्रैव मायीयं जन्मभोगदम्—कर्तयबोधे कार्म तु।
मायाशक्त्यैव तत् त्रयम्। शि० सू० वा० १—२१—२२।

२ ज्ञानाधिष्ठानं मातृका—शिवसूत्र १४।

३ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्व शब्देन भासते।—वाक्यपदीय—ब्रह्मकाण्ड।

४ सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
—दुर्गासप्तशती अध्याय १

५ अथ्यागान्ति सकारान्त-पञ्चाशद्वर्ण विग्रहा। शिवादि क्षितिपर्यन्त तत्त्व ग्राम प्रसूतिभूः। करग्र चिति मध्यस्थता ब्रह्म पाशावलम्बिका। पीठेश्वर्यो महाघोरा मोहयन्ति मुहुर्मुहुः—शिवसूत्रवार्तिक २६—२८।

६ अक्खर बाढ़ा सअल जगु णाहि णिरक्खर कोइ।
ताव स अक्खर घोलिया जाव णिरक्खर होइ।—दोहाकोश।

७ उद्यमो भैरव—शिवसूत्र १५।

यही आन्तरिक स्पन्दन उद्यम है जो पूर्ण अहन्ता का वास्तव स्वरूप है। विभेद लाने वाले 'विकल्पों' विविध कल्पनाओं को—जो सर्वत्र व्याप्त हैं—यह भैरव कवलित कर देता है अतः नाम भी सार्थक है।[1]

इस प्रकार उपयुक्त समस्त अण्डसमुदाय अथवा शक्तिचक्र का 'सन्धान'[2] अथवा क्षमापन हो जाता है फलतः समस्त विश्व का संहार अथवा लय हो जाता है आत्म प्रकाश रूप अग्नि की सत्ता ही संहार है। ऐसी दशा में तीनों चेतन्यावस्थाओं—जाग्रत स्वप्न और सुषुप्त—के रहते भी तुरीय दशा का व्यापक चमत्कार प्राप्त हो जाता है[3] फलतः सभी धरातलों पर एक ही आनन्दघन चैतन्य रहस्य की अनुभूति होती है।[4] योगी के योग में बहुत सी भूमिकाएं—धरातलरूप—होती हैं जिनमें परमानन्द लाभ का विस्मय मिलता चलता है।[5] शरीर दृश्य बन जाता है हृदय विश्व का आयतन हो जाता है। पशु भिन्न पशुपति की शक्ति का उदय हो जाता है आत्मज्ञानरूप वितर्क की उत्पत्ति होती है उसे समाधि का लोकानन्द मिलता है—जड़ता में लोक्य अथवा दृश्य और लोकयिता अथवा द्रष्टा के सिवा लोक, इन तीनों का अविचल प्रत्यय होता है जबकि योगी में सच्चिदानन्दमयी प्रतीति होती है वह यथेच्छ शरीर ले सकता है शुद्ध विद्या के उदय से शक्ति चक्र' अथवा अण्ड कटाह का स्वामी हो जाता है इस प्रकार पूर्ण अहन्ता का विमर्श अनुभवगम्य हो जाता है।[6]

ऊपर जो भैरव नाम का उपाय दिखाया गया वही 'शाम्भव उपाय' कहा जाता है। गुरु द्वारा मातृकाचक्र का संबोध प्राप्त कर मकरहस्य' पान

---

१ योऽयं विमर्शरूपायाः प्रसरन्त्याः स्वसंविदः। झटित्युच्छलनाकारप्रतिभा मञ्जनात्मकः। उद्यमोऽन्तः परिस्पन्दः पूर्णाहंभावनात्मकः। स एव सर्वशक्तीनां सामरस्याद्दशापतः। विश्वतां भरितत्त्वेन विकल्पानां विभञ्जनाम्। अलङ्कवलनेनासौ तर्यास्यैव भैरवः —शि० सू० वा० १ ३३–३५।

२ शक्तिचक्रसन्धाने विश्वसंहारः —शिवसूत्र १ ६॥ तथा वार्तिक ३७–४२

३ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोगसम्भवः —शिवसूत्र १ ७। तथा वार्तिक ४४–४५॥

४ त्रितयभोक्ता वीरेशः —शिवसूत्र १ ११। वार्तिक ५७–६१

५ विस्मयो योगभूमिकाः —वही १ १२। तथा वही ६३–६६

६ शिवसूत्र १ १३–२२ तथा वार्तिक ६७–११२

का दूसरा उपाय 'शाक्त उपाय' कहा जाता है। इस 'शाक्त उपाय' द्वारा भी विद्या अथवा बन्धनरूप ज्ञान का संहार हो जाता और विकल्प प्रतीतियों का दर्शन हो जाता है फलत अणु शिवरूपता प्राप्त कर लेता है।[1]

एक तीसरा आणव उपाय भी है। इस उपाय में चित्त अर्थात् बुद्धि अहंकार और मन की समष्टि रूप अन्तःकरण को 'आत्मा' मानते हैं। इसमें नाड़ियों आदि का महत्त्व है प्राणायाम आदि प्रक्रियाएं हैं।[2] हठयोग की प्रक्रिया इसी के अन्तर्गत है। बौद्धों की मनोवैज्ञानिक साधना भी इसी के अन्तर्गत है।

ऊपर शाम्भव, शाक्त और आणव तीन उपायों का निर्देश है जिनका सभी का अन्तिम लक्ष्य यही है कि जो जीव वस्तुत परमशिवरूप है वह उसी रूप में पुनः पहुंच जाय इसी को 'प्रतिमालन' कहते हैं।[3] इसी दशा को मोक्ष कहते हैं—मोक्ष कोई पृथक धाम नहीं न अन्यत्र कहीं जाता है अज्ञान की ग्रन्थि के खुल जाने से आत्मशक्ति का उन्मीलन ही मोक्ष है। वह शरीरी रहते भी मुक्त है जिसके पुण्य पाप का भेद जाता रहा।[4] यह वही दशा है जिसमें प्रकाशरूप आनन्द ही सार है वही महामन्त्र है, वही शक्ति है जिसे पूर्ण अहंता कहते हैं उसी में आवेश पा जाने से सृष्टिसंहारकारिणी संविद् देवता की तत्परता मिल जाती है और वही शिवत्वलाभ है।[5]

(ख) अरविन्द—दर्शन

इस शताब्दी ने जिस भारतीय मनीषी को जन्म देकर विश्व के समस्त मानवता की नवीन आशाओं को पूर्ण सत्य का आधार देना चाहा, वह थे अरविन्द। इनके अनुसार मनुष्य की सहज वृत्ति ही अमरत्व एवं दिव्य जीवन की ओर प्रेरित करती आ रही है परन्तु आज का मनुष्य उसे भूल रहा है। वे डार्विन के विकासवाद पर अपना मत देते हुए स्पष्ट कर देते हैं कि जब हम

---

१ शिवसूत्र तथा वार्तिक—द्वितीय उन्मेष।
२ वही—तृतीय उन्मेष।
३ भूयः स्यात् प्रतिमालनम्—शिवसूत्र ३-४५
४ परमार्थसार—६०-६१
५ प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—०

जडत्व म जीवन के विकास की बात करते हैं तो स्पष्ट है कि हम जडता म चेतना के विकास की बात करना चाहते हैं। अतएव महाकवि प्रसाद ने स्पष्ट कहा है —

देव असफलताओ का ध्वस
प्रचुर उपकरण जुटा कर आज—
पडा है बन मानव सम्पत्ति
पूण हो जड का चेतन राज। —कामायनी

अरविन्द ने स्पष्ट कहा है—

हम भूत म जीवन विकास विषयक बात करते है जिसका तात्पय हुआ कि हम भूत म चैतन्य का विकास खोजते हैं परन्तु विकास वह शब्द है जो केवल दृश्य जगत का वणन करता है उस स्पष्ट व्याख्या नही दे पाता। क्योकि इसमें कोई कारण नही दीखता कि भौतिक तत्त्वो म से जीवन क्यो विकास लेता है अथवा जीवन्त रूप म—से चेतना क्यो विकसित होती है जब तक कि हम यह वेदान्तीय समाधान न मान लें कि भूत पहले स ही जीवन और जीवन म चैतन्य ओतप्रोत है क्योकि तत्त्वत भूत आवत जीवन का एक रूप है और जीवन आवत चैतन्य का एक रूप है।[1]

प्रसाद जी विकास का यही दृष्टिकोण अपनाते हैं —

यह सकेत कर रही सत्ता
किसकी सरल विकासमयी ?
जीवन की लालसा आज क्यो
इतनी प्रखर विलासमयी ? (कामायनी)

अरविन्द के अनुसार उद्भासित मनस जब विश्वात्मा का प्रत्यय पा लेता है तो जड–चेतन का भेद समाप्त हो जाता है —

हमने पहले ही विश्वचेतना–महाचिति–म एक ऐसा सगमस्थान पा लिया है जहाँ भूत चेतना के प्रति और चेतना भूत के प्रति सत्य हो जाते हैं ? क्योंकि महाचिति म चेतना और जीवन मध्यवर्ती हैं साधारण आभिमानिक

1 The Life Divine—Pt I Page 3-4

प्रतीति मे जसे दीखते हैं, वसे, वियोजक शक्तियो अथवा विधि निषध (Positive negative) शक्तिया के बीच होने वाले कृत्रिम सघष के भेदकत्व नहा रह जाते, क्योकि विधि निषध शक्तियाँ दो एक ही अप्रमेय सत्य के सिद्धान्त हैं। विश्वचेतना को प्राप्त करता हुआ 'मनस' एक ऐसे प्रत्यय से 'प्राद्भासित' हो उठता है कि सहसा एकत्व तथा विविधता का सत्य देख लेता है और तब उनके अयोऽयाश्रयी सिद्धान्त पर अविचल हो जाता है विरोधो की अकस्मात व्याख्या पा लेता है और दिव्य समरसता द्वारा वह व्याख्या विरोधशमन की दशा प्राप्त करती है। उस दशा मे मन सतुष्ट एव निभर हो जाता और तब जिस जीवेश्वरक्य की दिशा में हम गतिशील हैं उस आत्यन्तिक एकत्व का सन्देशवाहक बन जाता है।[1]

कामायनी मे भी देख सकते हैं —

प्रतिफलित हुई सब आँखें उस प्रेम-ज्योति विमला से
सब पहचाने-से लगते, अपनी ही एक कला-से।
समरस थे जड या चेतन सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था॥'

अरविन्द की आध्यात्मिकता भौतिकता का त्याग अमान्य घोषित करती है, क्योकि उस दशा मे दोनो एक दूसरे की सीमा बन जाँय तो व्यापकता तथा नि सीमता भी निरपेक्ष न रह जायें —

ब्रह्म अपने को विविध क्रमानुगत चैतन्य रूपो मे व्यक्त करता है। वे रूप केवल परस्पर सम्बन्धो मे सक्रिय प्रतीत होते हैं। यद्यपि 'वस्तु-सत' मे वे साथ-साथ रहते हैं या यो कहे कि काल की नित्यता मे वे सगी होते हैं। जीवन, अपने विस्तार मे अपनी सत्ता के नित्य नूतन प्रान्तो की ओर उदय-शील रहता है। परन्तु यदि हम, एक से दूसरे प्रान्त मे पहुँचकर, उस शक्ति का त्याग कर देते हैं जो बडी तीव्र लालसा से नई उपलब्धि के निमित्त हमे दी हुई है यदि हम चेतना के जीवन मे पहुँचकर, भौतिक जीवन को फेंक देते या लघूकृत कर देते हैं जो आधारभूत है या यदि हम आध्यात्मिक उपलब्धियो के आकर्षण मे मानस या भौतिक तथ्यों का वर्जन कर बैठते हैं तो सर्वव्याप्त

---

1 The life Divine Pt. 32

ईश्वर की पूणता सिद्ध नही कर पाते और न ही उसकी आत्माभिव्यक्ति की शर्तों को पूरा कर सकते हैं।[1]

देखिए —

'हृदय म क्या है नही अघोर लालसा जीवन की नि शेष
कर रहा वञ्चित कही न त्याग तुम्हें मन मे घर सुन्दर वेश ?
दुख के डर से तुम अज्ञात जटिलताओ का कर अनुमान ?
काम से झिझक रहे हो आज भविष्यत स बनकर अनजान।

कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी म सब होते अनुरक्त।
काम मङ्गल स मण्डित श्रेय सग इच्छा का है परिणाम
तिरस्कृत कर उसका तुम भूल बनाते हो असफल भव धाम।[2]

इसी के समथन म प्रसाद जी के रहस्य वाद विषयक निब ध का अश उदधृत किया जा सकता है —

'अद्वैतमूला भक्ति रहस्यवादियो म निरन्तर प्राञ्जल होती गई। इस दार्शनिक सत्य का व्यावहारिक रूप देने म किसी विशेषआचार की आवश्यकता न थी। ससार को मिथ्या मान कर असम्भव कल्पना के पीछे भटकना नहीं पड़ता था। दु खवाद स उत्पन्न सन्यास और ससार से विराग की आवश्यकता न थी। अद्वैतमूलक रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप म विश्व को आत्मा का अभिन्न अग शवागमो म मान लिया गया था [3]

त्रिदिचयनिटी भी इसका समथन करती है —

For now wesee throughaglass doubly, but then face to face now I know in part but then shall I know even as also I am known [4]

---

1 The life Divine P 45

२ कामायनी श्रद्धासग

३ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृ० ५७।

4 The Holy Bibele P 418

अरविन्द महाचिति में सृष्टिक्रम का 'अवरोह' और सृष्टि से महाचिति की दिशा में पुनर्गति को 'आरोह' मानते हैं—शैवागम में प्रथम को 'संकोच' और द्वितीय को 'विकास' कहा गया है। विश्व तथा जीव—दोनों—एक ही महाचिति की अभिव्यक्तियाँ हैं, सृष्टिक्रम में विविध धरातल उस सत्य के आवरण हैं जो सत्य से अभिन्न हैं और उसे गोपायित रखते हैं। वे ही आवरण जीव के आरोह अथवा विकास में भूमिका का काम करते हैं। शैवदर्शन में जीवत्व [illegible] शिवत्व तक पहुँचाने वाली मध्यमा शक्ति है जो 'संविद्' कहलाती है—इसी के द्वारा मध्यवर्ती धरातलों का विकास लाभ कर जीव चिदानन्द की भूमि तक पहुँचता है।[1] अरविन्द का कथन है—

'विश्व और व्यक्ति—दोनों—विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं जिनमें वह अप्रमेय सत्ता अवतीर्ण होती है और जिन्हें पार करते हुए वह प्राप्त भी की जा सकती है क्योंकि अन्य मध्यवर्ती समुदाय केवल उन्हीं के पारस्परिक कार्य-कलाप से उत्पन्न होते हैं। यह परम सत्ता का अवरोह अपनी प्रकृति में आत्मगोपन है। अवरोह वे क्रमिक धरातल हैं जो गोपन के क्रमिक अवगुंठन बनते हैं। अनिवार्यतः स्व रूप का प्रकटीभाव आरोह का रूप लेता है और अनिवार्यतः ही आरोह तथा प्रकटीभाव—दोनों—पुरोगामी हैं। क्योंकि प्रत्येक क्रमिक धरातल जो निम्न सत्ता के अवरोह में बनता है मनुष्य के लिए आरोहण की नि श्रेणी है प्रत्येक अवगुण्ठन जो अज्ञात ईश्वर को तिरोहित रखती है ईश्वर प्रेमी एवम ईश्वरान्वेषी के लिए उसके अनावरण का साधन बन कर आता है।[2]

सुख-दुःखात्मक द्वन्द्वों के प्रत्यय का कारण व्यष्टिमूलक अहम् है जिसके लिए शिवसूत्र में 'ज्ञान बन्ध' कहा गया है। दुःखात्मक प्रतीतियाँ लौकिक दृष्टि से विधिरूप (positive) लगती हैं पर तत्त्वतः सत्य के लिए वे निषेधात्मक (negative) हैं जो चैतन्य के मूलरूप से पतन की परिचायिका हैं।[3] जब तक अहमूलक पुरुषार्थों का आग्रह रहेगा व्यापकता की प्रतीति दूर रहेगी—

---

१ 'मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः। मध्यभूता संविद् भगवती।'
—प्रत्यभिज्ञा हृदय १७

1 The life Divine—p 53

2 Ibid—p 61

3 Ibid—p 65

और आनन्द के समारम्भ का जीवन है जो आनन्द भौतिक प्रकृति में अभिव्यक्ति लेता है।"

"यदि भौतिक प्रकृति म कोई विकास होता है और यदि वह विकास उस सत्ता का है जो सत्य तथा जीवन—दो महत्त्व के धर्मों और शक्ति स समवेत है तो जीवन की यह पूणता विकास का लक्ष्य होनी ही चाहिए जिस की ओर हम सब अकाङ्क्षावान हैं और जो हमारे भावी की शीघ्र या विलम्ब की दशा में प्रकट होगी। [2]

यही कामायनी के आनन्दसर्ग की साम्यवो स्थिति है जहाँ जड चेतन समरस होते हैं, सौन्दर्य साकार हो जाता है चेतना एक होकर सबमय बन जाती है और अखण्ड एव घनीभूत आनन्द की उपलब्धि म मानवता पहुच जाती है। अरविन्द का भी कथन है —

यह वह महत्तर सत्य उसका आनन्द एव सौन्दर्य है जिस के लिए [illegible] (जीव) खोज कर रहा है सौन्दय जो सत्य ह और सत्य जो सौन्दय है और इसीलिए वह शाश्वत सुख है सौन्दर्य यह हम आत्मानन्द देता है जब उसकी अपनी गम्भीरतर सत्य-सत्ता का पटल खुल जाता है। [3]

+ + +

अरविन्द की तुलना मे डार्विन के भौतिक विकासवाद को लें तो डार्विन के सत्यपक्ष को लेकर उदासीन दिखेगा परन्तु जिस भाषा म वह बोलता ह उसे शुद्ध जडता की मानना असगत लगता है —

जिस प्रकार कोपलें अपन विकास द्वारा नई कोंपलों को विस्तार देती हैं और वे नई कोपलें यदि समथ होती हैं तो उपशाखाओं म फूट चलती और सभी ओर विविध प्रतनु प्रशाखाओं को फला दती हैं उसी प्रकार आनुवंशिकता से जसा कि मेरा विश्वास है जीवन का एक महातरु विकसित हो गया है जो अपनी प्रमृत एव टूटी हुई शाखाओं से पृथ्वी की पत भर देता है और अपने

1 The life Divine P 1181
2 Ibid P 1185
3 Future Poetry P 22

सदाविस्तारशील एवं सुन्दर भाषा प्रतानों में धरातल को आच्छादित करता रहता है।"[1]

अन्तर स्पष्ट है कि डार्विन का चिन्तन बहिर्मुख है जब कि अरविन्द अन्तर्मुखी दृष्टि से विचार करते हैं जिसकी भावात्मक उपलब्धि पन्त में देखी जा सकती है —

'अतिमानव, सामूहिक मानव, ये युग के अतिवाद भाव स्थित,
सहज राशि गुण सार ग्रहण कर मानवता विकसित होती नित।
सतत दूर के तीर सुनहले जन मन को करते आकर्षित
सूक्ष्म मत-सिद्धान्त बदल कर स्थूल जगत में होते मूर्तित।'[2]

निष्कर्ष

दर्शनों का सीमित-संक्षिप्त विवेचन लेकर देखा गया कि दर्शन और काव्य का लक्ष्य एक ही रहा है। साधना वैयक्तिक रही है पर दर्शन 'बुद्धि' और काव्य का 'भाव' सार्वजनीन रहे हैं। रहस्य काव्य में दर्शन और काव्य—बुद्धि और भाव—का संगम आध्यात्मिक घटना है जिसे अगले अध्यायों में काव्य के साथ देखने का प्रयास होगा।



---

१ The Making of Society P 306
(Darwin s Essay on Natural Selection)

२ रश्मिबन्ध—नवनिर्माण, पृ० १४० ।

रहस्य-द्रष्टा के भेद साधकमात्र, साधककवि, कविमात्र

क्योंकि सत्य एक ही है—कहा उस जड या चेतन—अत उसे सुन्दर से पृथक या भिन्न न मानना चाहिए। सत्य और सुदर मिलकर शिव की प्रतिष्ठा करते हैं। गुण रूप में सत्यता सुन्दरता और शिवता की अभिव्यक्ति-गत मात्रा के आधार पर व्यावहारिक भेद ही कल्पित होता है। पर सत्य यदि आनन्द रूप प्रत्यय है तो सुदर हागा ही, अन्यथा 'आनन्द भी न हागा—आनन्द ही तो काव्य—कमनीय—सुन्दर है। यही कारण है ऋषियो को कवि कहा गया है और ब्रह्मा को आदि कवि। परम सत्य, परमानन्द अथवा परम सुदर अपने अखण्ड व्यापक रूप म अप्रमेय रहत हैं अत रहस्य बने रहते हैं। ज्ञान-दर्शी ऋषि जब आवरण जाल को अति क्रान्त कर उस रहस्य' का दशन करता है तो वह सत्य ही नही इतना सुन्दर लगता है कि उसे भावसौदर्य म ढालकर काव्य बनाकर प्रस्तुत करता है। यह भी सम्भव है वह अनुभूति अनभिव्यक्त रहजाय—क्योकि आवश्यक नही कि शब्दाथ सम्पत्ति की सभी शरण लें—और तब 'रहस्य सत्य का साक्षात्कर्ता भीतर स कवि हाकर भी व्यवहार म कवि न कहा जायगा। ऐसा ही सभव है कि कोई दूसरे की रहस्यानुभूति से भावित होकर उस निःसीम सत्य-सुदर को व्यक्त कर चले। अत रहस्य-द्रष्टा के तीन भेद स्वत सिद्ध हैं —

१ साधक मात्र—योग शास्त्र म रहस्यात्मक सिद्धि के पाँच कारण बतलाये गये हैं—जन्म ओषधि मन्त्र तप और समाधि[1]। किसी कारण-वश शरीर धारणमात्र से रहस्यमयी अणिमा आदि सिद्धियाँ मिल जाती हैं कृष्ण भगवान के लिए पुराणों में ऐसा ही वर्णित है। शाक्त उपाय का पिछले अध्याय म उल्लेख हो चुका है। उसम मन्त्रसिद्धि का सकेत है और शाक्त आदि आगमो एव तन्त्रो म उनका विस्तत वणन मिलता है। मन्त्र द्वारा सिद्धि पाई जा सकती है। तप द्वारा सिद्धि का प्रतिपादन शास्त्रो एव पराणो म है भृगुवल्ली के अनुसार भृगु को आनन्द ब्रह्म की सिद्धि तप द्वारा ही हुई थी। पाँचवाँ प्रकार समाधि है जिससे सिद्धि की प्रणाली का प्रतिपादन योग म किया गया है।

---

१ योग सूत्र ४ १ ॥

विविध धरातलों पर प्राप्त की हुई यात्रा एवं परिस्थितियों के अनुसार अनेक कारणों से आई रहस्यात्मक उपलब्धियों में साधक प्रायः मौन रह जाते हैं बुद्ध आदि ऐसे ही साधक थे। वे यदि कहते भी हैं तो अपनी असमर्थता ही प्रकट कर देते हैं— न उसे वाणी से गुरु कह पाता है, न उसे शिष्य समझता है, सहज अमृत रस ही तो समस्त जगत है किससे किस प्रकार कहा जाय।"[1] इस मौन का कारण साधक की अशक्ति न होकर वाणी की सीमा है जैसा कि कबीर कहते हैं

"जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई।

२. साधक कवि—कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू की श्रुति जिस कवि का वर्णन करती है वह स्वयं रहस्यमयता है अथवा द्रष्टा। कवि शब्द की निष्पत्ति कु शब्दे धातु से हुई है—कवते इति कविः। परात्पर सत्ता ही महानाद सार शब्द है शब्द ब्रह्म है, स्व स्वरूप ज्ञान से अखिल नाद जगत एवं शब्द जगत का कारण है—कवि है। मनीषी शब्द 'मनस+ईषा' से मिलकर बना है 'मानस मनन धर्मा है तो ईषा गति दर्शन अर्थ देने वाला शब्द है— मनीषा मनन द्वारा प्राप्त व्याप्ति है और तत्त्व दर्शन है—ईष-गति हिंसा दर्शनेषु' धातु से ईषा बना है। मनसा ईषते इति शाल यस्य समनाषी व्युत्पत्ति है—मनीषी वही है जिसका शील मन से दर्शन करना अथवा व्याप्ति प्राप्त करना होता है। तभी तो उस परम सत्ता ने आदि कवि ब्रह्मा तक को वेदों का उपदेश दिया।[2] व्याप्ति का कहना ही क्या है समस्त भूत उसके चौथाई हैं तीन चौथाई अमृत तत्त्व शून्य रह जाता है।[3] जहाँ तक परिभू शब्द की गति है वह 'सर्वात्मिक व्याप्ति' का ही वाचक है—परितः = सर्वतः भवति। 'स्वयम्भू' तो स्वयं भवति है स्वतः एक होकर भी बहु होकर प्रजनन लाभ करता है। (एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय)

---

१ पाउत वाअइ गुरु कहइ, णउत बुज्झइ सीस।
सहजामिय रसु सअलु जग कासु कहिज्जइ कीस॥
—(सरहपाद दोहा कोश —प—स)

२ तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये—भागवत १ १ १।

३ ऋग्वेद—पुरुष सूक्त॥

तत्त्वद्रष्टा भी उसी अनन्त क साथ एकाकारहोकर कवि मनीषी परिभू स्वयभू हो जाता है। यही कारण है कि महर्षि अरविन्द न 'Future Poetry' म वेदों को ही वास्तव काव्य कहा है और चरम उपलब्धि को ही कवि प्रतिपाद्य बतलाया है। एक किम्वदन्ती के अनुसार निराला जी से कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपन एक गीत की समीक्षा चाही तो निराला जी ने गायत्री मन्त्र पढ कर सुना दिया—उससे बडी कविता लिखी ही नही गई है। वस्तुत सच्चे कवि और साधक म तात्त्विक अ तर नही प्रत्युत वही कवि है जो द्रष्टा है अत एव परम रहस्य का द्रष्टा अपन को पूणतया मौन रख नही पाता। वह कुछ न कुछ कहना अवश्य है और उसका सना बना काव्य का तिलक बन जाता है।

२ कविमात्र—यथाथ रहस्य द्रष्टा ही यथाथ कवि है तो रहस्य का कविमात्र कसे सभाव्य है? जिस प्रकार अखिल अग जग रहस्य तत्त्व स पृथक नहीं उसी प्रकार अभि यक्ति मात्र काव्य और अभिव्यजनशील व्यक्तिमात्र कवि कहा जा सकता है। पर इससे कवि तत्त्व नि सीम हो जाता है। वह नि सीम है ही—वह शक्ति है यक्ति नही। व्यक्ति स्वानुभूत सौदय को कवि नामक शक्ति के प्रति समर्पित कर देता है—

मैं इन अपलक नयनों स दखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता कर देता दान सुकवि को। —आँसू

फिर भी साधक स पृथक कविमात्र हो सकता है यह व्यावहारिक सत्य है। इसक दो कारण हैं एक तो साधना द्वारा द्रष्टा उसी परमानन्द म शाश्वत समावेश पा लेता है जबकि कविमात्र क्षणिक रहस्यानुभूति पाकर भावनानिहित करके व्यक्त कर देता है और उसक मानस की हलचल शान्त हो जाती है—

नक्षत्र की आशा किरण समान हृदय के कोमल कवि की कान्त—
कल्पना की लघु लहरी दिव्य कर रही मानस हलचल शान्त।
—कामायनी श्रद्धासग

स्पष्ट है कि नि सीम सौन्दय सत्य की क्षणिक अनुभूति कवि क हृदय सरोवर म भावतरगों की आवेगमयी हलचल मचा देती है जिससे वह अशान्त हो उठता और कल्पना की शरण म जाता है कल्पना उसे प्रशान्त बनाकर एक लघु तरग म परिणत कर देती है जो मानसरोवर की शान्त दशा का प्रतीक है और तब कहीं कवि को उस अनुभूति स छुटकारा मिलता है। उस चमक अथवा पलक का वरदान वह जगती को बाँटे बिना जी जो नहीं सकता।

एकाकी रहना निःसीम कवि का भी नहीं आता तो उसी शक्ति के प्रतिनिधि सीमित कवि को क्या सुनाए ?

जिस प्रकार सभी सरितायें पर्वत से अपना उद्गम नहीं रखती और न सभी महासागर में लीन होती हैं उसी प्रकार कुछ कवि सीधे रहस्य-नगराज से अस्तित्व पाते और रहस्यसागर को ही गन्तव्य बनाते हैं, कुछ का लक्ष्य तो सागर होता है पर उद्गम कोई अन्य रहस्य द्रष्टा (अन्य नदी के समान) होता है कुछ हैं जो पर्वतों से निकलते हैं, पर बीच में किसी अन्य नदी में संगम ले लेते हैं—सौन्दर्यानुभूति के कवि ऐसे ही हैं और कतिपय ऐसे भी होते हैं जो बीच में ही निकलकर बीच में ही लय पा लेते हैं रहस्य को वे क्या जानें, क्या मानें क्या समझें ?

अनेक कबीरपंथियों ने काव्यरचना की है जो कबीर काव्यधारा से पृथक नहीं पर उन सभी कवियों को साधक तत्त्वद्रष्टा मान लेने का कोई कारण नहीं। प्रसाद निराला आदि को दिव्य चमक कभी मिला हो नहीं इसका कोई कारण नहीं। बच्चन की एक रचना लें

मिट्टी का तन, मिट्टी का मन क्षणभर जीवन मेरा परिचय।

स्पष्ट है यह काव्य प्रवृत्ति दूसरी धारा की अवान्तर धारा लेकर नदी बनी है, पर अन्ततः उसी रहस्य सागर में संगम पाने को विवश है। वासना की अवसादमयी वृत्ति झील के समान इस लघु कुल्या को अन्य देती है, पर सच्चे रहस्य की व्यंजना की नदी के साथ जुड़कर वह अपना गन्तव्य वहीं बना लेती है। उमर खय्याम शैली सभी रहस्यवादी कवि हो गये क्योंकि इस धारा ने सभी छोटी धाराओं को अपने गोद में लेकर वहीं पहुँचा दिया है। देव जैसा शृंगारी कवि भी कभी वैसा हो जाता है और विद्यापति जब कहते हैं

कत मधुजामिनि रभस गमाओल न बुझल कसन केल
लाख-लाख जुग हिय हिय राखल तयो हिय जुड़ल न गेल।

तो किसी असीम शृंगारभावना में लय पा दिव्यलोक के घोर शृंगारी के अपवाद से बाहर हो जाते हैं।

रहस्यदर्शन की जाह्नवी पाप का पुण्य करके दिव्यलोक दे देती है।

रहस्यकाव्य का अधिष्ठान तत्त्व

दिव्य तत्त्व की सत्ता में से ही जीवन सत्तावान् है परन्तु उस परम व्योम की निर्बन्ध शक्ति के प्रति सम्मान नहीं है और परम चेतना उसी स्वर्गीय

सगीत के निझर प्रपात एव प्रवाह का स्तोत्र गान करती ह पर उसका अथ ग्राह्य नही बना पाती।' —खलील जिब्रान[1]

* * *

एक अमर स्रोत ह जहाँ से मरणधर्मा जीवन-न" निकला ह और घूम कर वही जाता ह। जडतावादी विचारक ग्रतस्वरूप समजनशील एक जडसत्ता मान कर उसे शाश्वत करार देता ह तो दूसरे हैं जो चेतना का सुन्दर इतिहास का अखिल मानवभावो का सत्य मान कर चाहते हैं कि वही विश्व क हृदय पटल पर दिव्य अक्षरो म नित्य अकित हो[2] जाय। दोनो ही उदगम को शाश्वत मानते हैं दोनो उसे समरस स्वीकार करते हैं और द्वन्द्वात्मकता अथवा विषमता को सृष्टि के लिए आवश्यक बतलाते हुए उस परम सत्ता की प्रकृति मानते हैं पर भूमा की स्वीकृति सबमान्य ह

विषमता की पीडा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान
यही सुख दुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान।[3]

समरस शाश्वत सत्य क समस्त रूप स व्यस्त(विभक्त)विश्व की सृष्टि का कारण अनन्त का स्पन्दन ह, क्रिया है जो विषमता में परिणत हुई लगती ह पर वस्तुत समरसता की अनस्यूति नित्य ह। नित्य समरसता का अधिकार। किसी समसख्या में विषमखण्ड तभी तक विषम हैं जब तक व विश्लिष्ट हैं सश्लिष्ट रूप म लेते ही वह समता उनम भी व्याप्ति कर लेगी क्योकि वही नित्य ह उसी का अधिकार ह।

अतएव जीवन परिवतनशील होकर भी नित्य ह जरामरण तो इसलिए ह कि नित्य नूतनता का आनन्द लिये है परिवतन में टेक। आनन्द तत्त्व की ही नित्य परिवतन म अभिव्यक्ति होती ह अतएव वेदान्त न घोषणा की है

सभी तत्त्व स्वभाव से जरामरणरहित हैं।

---

1 Life exists through the existence of the Heavenly system

२ ३ कामायनी—श्रद्धा।

उसी की मनसा से जरामरण चाहते हैं और स्वभाव से च्युत होते हैं।[1]

परन्तु प्रकृत स्वभाव का छोड कर विकृत अभ्यास लेकर हम जरामरण का सत्य मानकर चल पडते हैं यही भय का कारण है।

'जिसका अब तक समय व सब जीवन म परिवतन अनन्त,
अमरत्व वही अब भूलेगा तुम व्याकुल उसका कहा अन्त।"[2]

इस अभिशाप क अखिल मण्डल को चीरकर शाश्वत जीवन तत्त्व या अमर चतना क दशन होते हैं वही रहस्य काव्य का प्ररक है।

* * *

कवि चाहे अनुभूति स बुद्धि म आय चाहे बुद्धि से अनुभूति म उतरने का विवश कर दिया जाय, जब दिनदिन इतस्ततस्त्य जीवन क स्पित-बुझते कणा क लौकिक परिवतन को नगण्य बनाकर वह उसक अन्तरग म घुसते घुसत सभा माया मण्डला को पार करक निःसीम म जा पहुँचता है तब सच्चा कवि बन जाता और—

"चेतन का साक्षी मानव हो निर्विकार हसता-सा,
मानस के मधुर मिलन में गहर-गहर धसता सा।'[3]

वह जो कुछ कहता है वही अनन्त का सघात बन जाता है। उसी अवस्था म पहुँच कर तत्त्वद्रष्टा कबीर सान्त्वना दत है

हे चक्र! रात्रि-काल तू प्रिय स दूर वियुक्त है इसका सन्ताप मत कर, धय रख! सूय क उदय होत ही दशदिश-व्याप्त्य म तू ही अपनी ध्वनि व्याप्त कर दगा।[4]

यही तत्त्वभाव वह प्रेरक है जो रहस्य काव्य का अधिष्ठान है।

---

१ जरा-मरण निर्मुक्ता सर्वे धर्मा स्वभावत। जरामरणमिच्छन्त च्यवन्ते तन्मनीषया॥—माण्डूक्यकारिका—अलातशान्ति १०।

२ कामायनी—इडा—पृ० १६६।

३ वही—आनन्दसग।

४ रणा दूर बिछोहिया रहु रे सख मझूरि।
देवलि-देवलि धाहडी, दसी ऊग सूरि॥—कबीर-साखी—विरह को अग-४४
(यह दोहा शुद्ध अपभ्रंश भाषा का है।)

दार्शनिक तथा काव्यगत रहस्य मे अन्तर

पहले ही देखा जा चुका है कि वेदो म विज्ञान दर्शन का य का मिश्र रूप था जो आगे यथावत रह न सका। उपनिषदो म ही कला गौण होने लगी थी और अभि यक्ति के श द चित्रात्मकता म से होते हुए बौद्धिक पारिभाषिकता लेने लगे थ। पारिभाषिक शब्द स्थित अथ देने लगता है तो उसम काव्योपयोगी गत्यात्मकता म थर हो जाती है अत कवि मूल चित्र भाषा का अपनाये हुए अलग हो गया। सूत्रों मे आकर जब भाषा और भी बौद्धिक हो गई ता काव्य की सत्ता सर्वात्मना पृथक हा गई। परन्तु अब भी का य, जा पुराणो म और रामायण—महाभारत म है लौकिक न बन पाया उसन अलौकिकता को ही लोकवेद्य बनान का काय हाथ म लिया। फिर भी दशन और काव्य दो हो गए। भाय सिद्ध सन्त सूफी आदि कवि अपने का यो म वही मूल रूप बनाए चल रहे हैं।

ज्ञान और भाव दानो को सँभालने वाली भाषा काव्य की ही हो सकती है क्योंकि भाव ज्ञान का आधारभूत है और काव्य भाव को प्राथमिकता दता है परन्तु स्पष्टबोधगम्यता के लिए भाषा उत्तरोत्तर पारिभाषिक रूढि अपनान को विवश हुई। इधर का य निमु क्त होकर रहस्यधारा स प्रच्युत हा चला। कविता क लिए यह इतिहास चाहे—पोषक मान लिया जाय पर भावप्रधान जन-जीवन क लिए इस प्रवृत्ति को अभिशाप मानना चाहिए।

जब ऋषि कहता है

हे जल्देवियो ! तुम्हारा जो मङ्गलमय रस है उसे हम बाँट दो जस पुत्रभाविनी मातायें अपना हृदयरस प्रदान करती हैं। तो कवि का 'भाव उतना ही सजग है जितना कि विज्ञान और दर्शन। फल्त प्राकृतिक शक्ति म अनुस्यूत असीम रहस्य के प्रति भाव उमड आता है। अतएव अरविन्द के अनुसार काव्य वह संगीतात्मक वाणी है जो अचानक द्रष्टा के हृदय और सत्य के सुदूर धाम स उद्भूत हाती है।[1] अरविन्द क ही दार्शनिक और काव्यात्मक ग्रन्थों की तुलना करें ता स्पष्ट हो जायगा कि काव्य की भ षा भावमय, प्रतीकात्मक चित्रमयी एव गीतात्मक हो उठी है। उदाहरणार्थ —

1 G H Langlay—Shri Aurobindo—P 113

'अब मैं

सहन करता हूं नहीं और उन सुनसान आयामी वक्षों को,
और उपवनों को जो उस प्रिया से रिक्त हैं। म जाऊंगा
और उसे खोजूंगा वनस्थर तरु दल के नीचे
अथवा प्रपातों के पीछे एकान्त म।'[1]

पुरुरवस के इस प्रलाप म चिरन्तन विरह का जो संकेत मिलता है वही तो काव्यात्मा है रहस्य है। इसकी व्याख्या दार्शनिक होगी पर प्रतीति भावात्मक। इस रहस्यमयता से गिरकर कविता पूर्ण अलौकिक न रह सकी यही अभिशाप है जिसे जीवन के साथ कविता भी ढो रही है।

* * *

यहाँ स्पष्ट ही दर्शन और काव्य के रहस्य म औपाधिक अन्तर दीख जाता है। दर्शन की प्रक्रिया बौद्धिक है और काव्य की भावात्मक। भाव के धरातल असख्य होंगे। अत प्रतीतियाँ विविध होंगी, पर रसास्वाद का एक साधारण धरातल उन प्रतीतियों को एकरूपता प्रदान करेगा परन्तु दर्शनजन्य बोध बड़ी मतकता से परिभाषाओं द्वारा ग्रहीत कराया जाता है फिर भी यदि बुद्धि म कुछ का कुछ बढ़ा तो असख्य व्याख्यायें सत्य का तिरोहित कर देंगी। बुद्धि जहाँ अध्यवसाय से हटी कि विकल्प में पड़ी। काव्य का रहस्यभाव की परिधि का केन्द्र बनकर आनन्द का प्रकाश देता ही रहता है। बुद्धि प्रश्न करने का विकास करके छोड़ देगी

"नि का सुदूर वह नील लोक
जिसकी छाया-सा फला है ऊपर-नीचे यह गगन शोक
उसके भी पर सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक
वह एक किरण अपनी देकर मेरी स्वतन्त्रता म सहाय
क्या बन सकता है नियति जाल से मुक्तिदान का कर उपाय।"

—कामायनी—इडा

---

१ वही—पृष्ठ ११३ पर उद्धृत ॥

परन्तु काव्य का भाव एक आस्था देगा

हे विराट ! हे विश्वदेव !! तुम कुछ हो, ऐसा होता भान।
—वही-आशा

* * *

अध्यात्मबोध और काव्यकृत रहस्यबोध एक तुला पर रखे जा सकते हैं। दोनों में अन्तःकरण की अखण्डवृत्ति काम करती है। इतना अन्तर तो रहेगा कि शुद्ध काव्य की वृत्ति विभावादि अनेक तत्त्वों के मण्डल में रहकर भाव या राग से उपरक्त होगी जबकि अध्यात्मबोध शुद्ध एवं नीराग रूप लेगा। अध्यात्मबोध भी काव्य में भावावृत हो जाता है और योगी को भी पूर्ण लय नहीं दे पाता उसकी तो प्रणाली ही पृथक् है। अध्यात्म रहस्य सदा प्रतीयमान रह सकता है पर काव्य की प्रतीति क्षणावस्थायी झलक भर है, तत्त्वद्रष्टा कवि भी उस क्षणिक प्रत्ययशीलता से मुक्त नहीं कर सकता।

रहस्यात्मक सौन्दर्य-बोध

देदीप्यमान 'तप' अथवा परम प्रकाश के ऋत और सत्य दो पक्ष हैं।[1] 'सत्य' उसका सत्ता-पक्ष है तो ऋत गतिपक्ष। यही सत्यात्मा तपस पूर्ण सौन्दर्य है जो अपनी दीप्ति से जगत को दीप्त करता है। ऋषियों ने प्रकृति के नानारूपों में उसी एक सौन्दर्य को विकीर्ण देखा था अतएव अग्नि सोम वरुण मरुत ही नहीं मण्डूक' तक देवत्व की महिमा से मण्डित हो उठे थे। यही दृष्टि है जो समस्त से व्यस्त में आकर समस्त को देखती है। यही दृष्टि व्यस्त को देख कर भी उसके वस्तुत्व पर विश्वास नहीं कर पाती—'नेति' की महिमा यहाँ भी व्याप्त रहती है।

परन्तु प्रत्येक सौन्दर्य दृष्टि इस प्रकार असीम को आलम्बन नहीं बना पाती। हम प्रायः एक वृक्ष के एक पल्लव की सुषमा से आक्रान्त होकर उसी में तन्मय हो जाते और समूचे वृक्ष को खो देते हैं। बिहारी के लिए तो—

"चौका-चौंधनि चौंध में परति चौंधि-सी दीठि।

---

१ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।

इस दृष्टि को व्यस्त में ही रत पाते हैं अत इसे जीव की अणतम सीमा, कणात्मक व्यष्टि की देन मान लेना ही सगत है।

*

*

*

उक्त दो सीमायें महत्तम और अणतम हैं जिनके मध्य म अनन्त दृष्टियाँ होगी जो मध्य सौन्दय को दश्य बनाकर द्रष्टा को चकित कर देती हैं। हम देख चुके हैं कि रहस्यानुभूति क विविध धरातल हैं जो द्रष्टा की पात्रता क अनुसार निर्धारित होते हैं। प्रसाद जी क्षितिगत सुषुमा को मानव भोग्य मानते थे, अत उस स्वतन्त्र सौन्दय का न तो स्रोत मानते थे और न ही उस पर आश्चय प्रकट कर पाते थ। परन्तु समस्त क्षितिखण्ड को प्रभावित करने वाले ब्रह्मखण्ड को व विस्मय स देखते थे और उसमें रहस्य की सुषमा झाँकती हुई पाते थे—उषा रजनी ग्रहमण्डल आदि एस हैं। उदाहरणार्थ—

उदबुद्ध क्षितिज की श्याम छटा
इस उदित शुक्र की छाया म
उषा सा कौन रहस्य लिये
सोती किरणों की काया म।

(कामायनी—पृ० ६७)

परन्तु प्रसाद का कवि इस दृश्य म अदश्य रहने वाले कारणभूत सौन्दय को पकडने के लिए आकुल है

मैं देख रहा हूं जो कुछ भी
वह सब क्या छाया उलझन है?
सुन्दरता क इस परदे में
क्या अन्य धरा कोई धन है?

(वही—पृ० ६६)

दूसरे शब्दों म कहा जा सकता है कि कवि व्यष्टियों म उलझ कर भी उस सत्य नहीं मान पाता और उनम व्याप्त रहस्यात्मक सौन्दय की चमक स चकचौंध जाता है। यही कारण है कि मानवी म सौन्दय का भी म अन पहुँचाना घोषित करने को विवश हैं

ज्योत्सना निझर! ठहरती ही नहीं यह आँख
तुम्हें कुछ पहचानने की खो गई सी साख।

—यही वासन